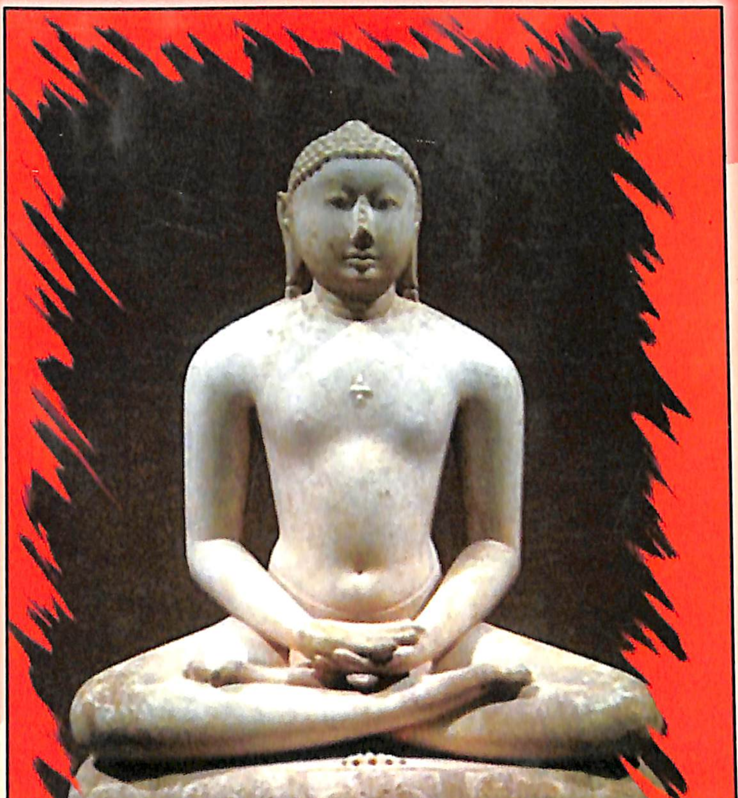
सुत्तपिटक में अभिधम्म के तत्त्व



डॉ० मीना कुमारी

सुत्तपिटक में अभिधम्म के तत्त्व

डॉ० मीना कुमारी
एम.ए. (पालि) पीएच.डी.

ईस्टर्न बुक लिंकर्स
दिल्ली : : (भारत)

सर्वाधिकार सुरक्षित है, इस पुस्तक के इस संस्करण का कोई भी भाग किसी उद्देश्य से किसी भी रूप में प्रकाशक की अनुमति के बिना प्रकाशित नहीं किया जा सकता है।

प्रकाशक :
ईस्टर्न बुक लिंकर्स
5825, न्यू चन्द्रावल, जवाहरनगर
दिल्ली-110007
फोन : 23850287, 32919869
e-mail : books@eblindology.com
ebl@vsnl.net
Website : www.eblindology.com

प्रथम संस्करण : 2009

© प्रकाशक

मूल्य : 350.00

ISBN : 978-81-7854-156-3

सुत्तपिटक में अभिधम्म के तत्त्व

डॉ० मीना कुमारी

मुद्रक : आर. के. प्रिंट सर्विस, दिल्ली

पुरोवाक्

जब मैं अभिधम्म दर्शन लेकर पालि में एम०ए० कर रही थी तभी मेरे मन में अभिधम्म के संबंध में कई तरह के प्रश्न उठते थे। अभिधर्म पिटक की पुस्तकें जब देखती तो हैरानी और बढ़ जाती। सुत्तपिटक के सुत्तों में तथा विनयपिटक की पुस्तकों में जो शैली पायी जाती है वह अभिधम्म पिटक की पुस्तकों में क्यों नहीं है? जब महाकस्सप ने '**धम्मञ्च विनयञ्च संगायेय्याम**' कहा था तो क्या 'धम्म' शब्द का तात्पर्य अभिधर्म से भी था या 'धम्म' का अर्थ केवल उन सुत्तों से है जो निकायों में संगृहीत हैं? अवश्य ही उनमें 'धर्म' समाया हुआ है, क्योंकि बुद्ध के उपदेश बिना धर्म के हो ही नहीं सकते हैं, पर क्या वही 'धर्म' 'अभिधर्म' है?

जब एम०ए० में उत्तीर्ण होकर छात्रों को पढ़ाने लगी और कुछ-कुछ चिन्तन करने लगी तो धीरे-धीरे यह बात स्पष्ट से स्पष्टतर होती गई कि धर्म ही अभिधर्म के रूप में विकसित हुआ और उसी का विश्लेषण, विभाजन और वर्गीकरण बाद में किया गया। उसका यह स्वरूप जिन पुस्तकों में प्राप्त होता है वे अवश्य ही कालांतर में प्रणीत की गईं और यह मानना कि 'अभिधर्म' शब्द अभिधर्म की पुस्तकों का भी द्योतक है और अभिधर्म की पुस्तकों का संगायन भी प्रथम संगीति में ही हो गया, अन्ध श्रद्धा और भक्ति अधिक होगी और ऐतिहासिक दृष्टि कम, ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य का ज्ञान कम।

बुद्धघोष जैसे प्रख्यात अट्ठकथाकार ने भी 'अभिधर्म बुद्धवचन ही है' इसे प्रमाणित करने के लिये और संभवतः लोगों की भावनाओं का आदर करते हुए यह कहा कि भगवान बुद्ध ने प्रथमतः अभिधर्म का उपदेश तावतिंस लोक में अपनी माँ को दिया और फिर अपने महाप्रज्ञ शिष्य सारिपुत्त को जिन्होंने अपने पाँच सौ शिष्यों को अभिधर्म की शिक्षा दी। इस मत को माननेवाले और भी विद्वान हैं।

दूसरी ओर श्रीमती रीज डेविड्स हैं जो मज्झिम निकाय के अनुपद सुत्त को बुद्धवचन मानती ही नहीं और इस आधार पर उन्होंने प्रतिपादित किया है कि अभिधर्म की रचना बाद में विद्वान भिक्षुओं द्वारा की गई और यह कहना कि अभिधर्म का संगायन प्रथम संगीति में ही हो गया था, बिल्कुल गलत है, अविश्सनीय है, कोरी

कल्पना है। ऐसा वे उस सुत्त में पाये जाने वाले कुछ शब्दों के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर कहती हैं।

मेरे विचार से इन दोनों मतों को ऊपर-ऊपर से देखने पर यह कहना सही लगेगा कि दोनों ही मत अधूरे हैं, अर्द्धसत्य पर आधारित हैं। अभिधर्म का संगायन अर्थात जिस रूप में अभिधर्म अभी प्राप्त है अर्थात् जिन सात पुस्तकों में अभिधर्म की बातें हैं उनका संगायन प्रथम संगीति में ही हुआ है- यह तो असंभव लगता है, ऐतिहासिक दृष्टि से सही नहीं मालूम पड़ता। दूसरी ओर श्रीमती रीज डेविड्स का यह मत कि अभिधर्म का प्रतिपादन विद्वान भिक्षुओं ने बाद में किया और बुद्ध ने अपने उपदेशों में इसे प्रतिपादित नहीं किया भी पूर्वाग्रह से दूषित है।

इस काल्पनिक कहानी अथवा मिथक से कि अभिधर्म का उपदेश सर्वप्रथम बुद्ध ने अपनी माँ को तावतिंस लोक में दिया एक बात जो स्पष्ट है वह यह है कि अभिधर्म बुद्ध का विषय है और उन्होंने ही इसका उपदेश किया। दूसरी बात जो सामने आती है, वह यह है कि अभिधर्म गहरा विषय है और उसको समझने के लिये देवताओं जैसा चित्त चाहिये। यह मनोवैज्ञानिक बात है कि गहरी बात को समझने के लिये अधिक शुद्ध चित्त होना चाहिए, देवताओं की तरह होना चाहिए। ञाणपोणिक थेर ने इस बात की ओर विद्वानों का ध्यान खींचा है।

मैं ऐसा मानती हूँ कि अभिधर्म अथवा उच्चतर ज्ञान की उत्पत्ति तो उसी रात हो गई थी, जिस रात को भगवान बुद्ध ने बोधि प्राप्त की थी। उनकी बोधि और कुछ नहीं अभिधर्म ही है जिसमें दुःख के मूल कारण तृष्णा को दूर करने और फिर तृष्णातीत होने के लिए जिस मार्ग पर चलना है उसके आठ अंगों को दिखाया गया है। इसी में चित्त, चैतसिक, रूप आदि का वर्णन भी समाया हुआ है। चार आर्य-सत्यों के वर्णन में अभिधर्म की सारी बातें समायी हुई हैं। द्वितीय आर्य सत्य का परिज्ञान तभी संभव है जब प्रतीत्यसमुत्पाद परिज्ञात हो, ब्रह्मचर्यवास का पूरा अर्थ तभी समझा जा सकता है जब अष्टांगिक मार्ग पर कोई चले।

बुद्ध ने सुत्तपटिक के सुत्तों में क्या उपदेश दिया है? यही न कि राग, द्वेष और मोह मनुष्य को कुशल कर्म करने नहीं देते और उसे कुशल कर्म करने के लिये, अकुशल कर्म को त्यागने के लिए अलोभ, अद्वेष और अमोह की भावना करनी ही होगी। प्रज्ञा प्राप्ति के लिए कुशल चित्त की एकाग्रता, (समाधि) आवश्यक है और समाधि की भावना करने के लिए पाँच शत्रुओं पर विजय पाना आवश्यक है। ये पाँच शत्रु हैं-कामच्छन्द, व्यापाद, थिनमिद्ध, उद्धच्चकुकुच्च और विचिकिच्छा।

जब महाकस्सप ने 'धम्मञ्च विनयञ्च संगायेय्याम' कहा तो उनका तात्पर्य अभिधर्म और अभिविनय से था। धर्म में अभिधर्म समाया हुआ है। सुत्तपटिक के सुत्तों के अध्ययन तथा विश्लेषण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इनमें अभिधर्म के तत्व भरे पड़े हैं। अभिधर्म का उपदेश तो भगवान बुद्ध ने दिया क्योंकि अभिधर्म बुद्ध का विषय है। लेकिन अभिधर्म पिटक में संगृहीत सात पुस्तकों का प्रणयन कालक्रम से बाद में हुआ जैसा हम जानते हैं कि इसकी अन्तिम पुस्तक 'कथावत्थु' का प्रणयन तो अशोक के काल में मोग्गलिपुत्त तिस्स थेर ने किया।

संक्षेप में मेरा यही प्रतिपाद्य रहा है कि सुत्तपिटक के सुत्तों में अभिधर्म के बीज बिखरे पड़े हैं। इन्हीं सुत्तों के आधार पर, इनमें पाये जाने वाले अभिधर्म के तत्वों का विश्लेषण, विभाजन और वर्गीकरण बाद में कर अभिधर्म पिटक की विभिन्न पुस्तकों की रचना की गई।

इस शोध प्रबंध में मैंने यह दिखाया है कि अमुक सुत्त में अभिधर्म का कौन सा तत्व विद्यमान है। जैसे **सामञ्ञफल सुत्त** में पाँच नीवरण तथा चार रूपावचर ध्यानों की चर्चा है। **ब्रह्मजाल** तथा **सामञ्ञफल सुत्त** में तथा दीघ निकाय के और कई सुत्तों का विश्लेषण कर, उन्हें मथकर अभिधर्म तत्व अर्थात् अभिधर्म नवनीत निकाला गया है और मैंने दिखाया है कि सुत्तपिटक और अभिधर्म पिटक का पारस्परिक संबंध गहरा है। अभिधर्म पिटक के ग्रंथ सुत्तपिटक के सुत्तों पर ही आधारित हैं।

इस शोध प्रबंध के लिखने में मुझे प्रभूत मार्ग-दर्शन अपने पूज्य पिता प्रो० अंगराज चौधरी, भूतपूर्व प्राध्यापक पालि, नालन्दा महाविहार से मिला। उन्होंने मुझे उंगली पकड़कर चलना सिखाया, रास्ता दिखाया, पढ़ाया तथा सिखाया और कई सुत्तों का विश्लेषण कर दिखाया कि इस शोध प्रबन्ध को कैसे लिखना है और उसमें क्या दिखाना है। पहले जैसे में विशाल सागर के तीर पर घबड़ायी हुई, किंकर्त्तव्य विमूढ़ खड़ी थी। नहीं जानती थी कि इस विशाल सागर को कैसे पार किया जाय। उन्होंने मुझे इस गंभीर सागर में गोता लगाना सिखाया और धीरे-धीरे मैं आगे बढ़ती गई। एक-एक सुत्त को पढ़कर उनके हिन्दी अनुवाद तथा उसके बारे में लिखे सारांश को पढ़कर जो नवनीत मैंने निकाला, वह इस पुस्तक में है।

इसे पुस्तक का रूप देने के पहले मैंने इसे मगध विश्वविद्यालय, बोध गया में पीएच.डी. की डिग्री के लिए शोध प्रबंध के रूप में उपस्थापित किया था।

मैं डा० धीरेन्द्र कुमार, अध्यक्ष, स्नातकोत्तर पालि विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करती हूँ, जिन्होंने बहुत तरह से मेरी

सहायता की जिससे कि मैं शोध प्रबंध विश्वविद्यालय में प्रस्तुत करने में समर्थ हो सकी। उनके बहुमूल्य सुझावों से भी मैं लाभान्वित हुई हूँ।

अब यह पुस्तक आप सहृदय पाठकों के हाथ में है। मैं आशा करती हूँ कि आपके सुझावों से मैं इसे आगे और अच्छा रूप दे सकूँगी और जो भूलें रह गयी हैं उन्हें पूरा कर सकूँगी।

आषाढ़ पूर्णिमा

मीना कुमारी

विषय सूची

प्रथम अध्याय

आजकल थेरवादी परम्परा जिसे बुद्धवचन कहती है और जो पालि भाषा में निबद्ध है उसे त्रिपिटक कहते हैं। विनय पिटक, सुत्तपिटक और अभिधम्म पिटक ये तीन पिटक हैं जिनमें क्रमशः बुद्धघोष की अट्ठसालिनी[1] के अनुसार बुद्ध की आणादेसना, वोहारदेसना और परमत्थदेसना संगृहीत हैं। बुद्ध में श्रद्धा रखने वाले भक्ति प्रवृत्ति के लोग इन तीनों को बुद्ध मुख से निःसृत बुद्धवचन मानकर पवित्र समझते हैं। उनके मन में यह प्रश्न भी नहीं उठता कि क्या भगवान बुद्ध ने इन तीनों का प्रणयन स्वयं किया। कम-से-कम जिस रूप में आज हमें त्रिपिटक प्राप्त है क्या उसी रूप में भगवान बुद्ध ने उनका प्रणयन किया? यदि यह बात थोड़ी देर के लिए मान भी ली जाए तो हम उन उपदेशों का क्या करेंगे जिनका उपदेश भगवान बुद्ध के प्रमुख शिष्यों ने किया था? क्या हम उन्हें सारिपुत्त मोग्गल्लान और अन्य शिष्यों का उपदेश समझकर त्रिपिटक से निष्कासित कर देंगे? यदि नहीं तो फिर बुद्ध वचन कहने का हमारा क्या तात्पर्य होगा? किस अर्थ में हम त्रिपिटक को बुद्ध वचन कहेंगे? ये सभी प्रश्न ऐतिहासिक दृष्टि रखने वाले पाठक के सम्मुख अपना उत्तर मांगने के लिए आ खड़े होते हैं।

जैसा हमने ऊपर कहा है, विनय पटक में भगवान बुद्ध की आणादेसना संगृहीत है, सुत्त पिटक में वोहारदेसना और अभिधम्म पिटक में परमत्थदेसना। बोधगया में ज्ञान प्राप्ति के बाद भगवान बुद्ध ने मज्झिम देश के ग्राम नगर-निगम और जनपद में चारिका करते हुए पैंतालीस वर्षो तक अनेक व्यक्तियों के समक्ष समयानुसार या उनकी आवश्यकता के अनुसार उपदेश दिये। सुत्त पिटक में ये उपदेश संगृहीत हैं। इस पिटक में जितने सुत्त संगृहीत हैं उनमें से प्रत्येक के अध्ययन से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि बुद्ध ने कहाँ और किस व्यक्ति को कौन सा उपदेश दिया। दीघनिकाय[2] का सामञ्ञफलसुत्त राजगीर में स्थित जीवक के आम्रवन में अजातशत्रु को दिया गया उपदेश है और उसमें श्रामण्य-फल बताया गया है। ब्रह्मजालसुत्त[3] भी

1. अट्ठसालिनी, (सं० प्रो० पी० व्ही बापट) निदान कथा, पृ० सं०-18
2. सामञ्ञफलसुत्त, दी. नि. 1-41
3. ब्रह्मजाल सुत्त, दी. नि. 1-03

अम्बलट्ठिका में भिक्षुओं को दिया गया उपदेश है। इस तरह प्रत्येक सुत्त में स्थान और व्यक्ति की चर्चा है। विनय पिटक के महावग्ग के अध्ययन से पता चलता है कि संघ के कौन से नियम भगवान बुद्ध ने किस परिप्रेक्ष्य में बनाये। इस तरह विनय और सुत्तपिटक की ऐतिहासिकता प्रमाणित हो जाती है।

बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात् राजगृह के वैभारपर्वत की सप्तवर्णी गुफा में पाँच सौ भिक्षुओं की प्रथम संगीति स्थविर (थेर) महाकस्सप द्वारा बुलाई गई थी। उसका एकमात्र उद्देश्य था बुद्ध के वचनों की सुरक्षा। भिक्षु सुभद्र ने भगवान बुद्ध के महापरिनिब्बान के पश्चात् जो बात कही थी वह खतरे की घंटी थी और महाकस्सप को ऐसी आशंका हो गई थी कि बुद्धोपदेश अपने शुद्ध रूप में अक्षुण्ण नहीं रह पायेंगे। इसलिए उन्होंने संगीति बुलवाकर बुद्धोपदेश को शुद्ध रूप में रखने की योजना बनायी। उस प्रसंग में महाकस्सप ने कहा कि "धम्मञ्च विनयञ्च संगायेय्याम।[1] यदि विनय से तात्पर्य उन नियमों से है जो विनय पिटक में अभी सुरक्षित हैं तो धर्म का तात्पर्य सुत्तपिटक में संगृहीत उपदेश तथा अभिधम्म पिटक में संगृहीत मनोनैतिक विवरण होना चाहिए। जिस रूप में अभी हमें विनय पिटक और सुत्त पिटक मिलते हैं उससे ऐसा लगता है कि बुद्ध काल में या बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात् दो ही पिटक वस्तुत: रहे होंगे जो विनय पिटक और सुत्तपिटक हैं। उपालि और आनन्द ने जिस तरह भगवान बुद्ध के उपदेशों को अपनी स्मरण शक्ति से संगायन किया उनकी शैली में समानता है। दोनों ने ही क्रमश: 'तेन खो पन समयेन' तथा 'एवं मे सुतं'[2] कहा है। जो अभिधम्म पिटक अभी हमें उपलब्ध है उसमें ये वाक्य प्रारम्भ में नहीं पाये जाते। इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि अभिधम्म पिटक का संगायन प्रथम संगीति में तो नहीं ही हुआ। अभिधम्म पिटक में सात पुस्तकें हैं जिनमें एक का प्रणयन मोग्गलिपुत्ततिस्स थेर ने अशोक के काल में किया। यह बात ऐतिहासिक सत्य है तो फिर इसका संगायन प्रथम संगीति में नहीं ही हुआ होगा।

तब प्रश्न उठता है कि अभिधम्म पिटक कहाँ से आया? विनय पिटक में तो वैसे नियमों का वर्णन है जिनके पालन करने से भिक्षु अपने वैयक्तिक जीवन को संयमित रखकर आध्यात्मिक प्रगति कर सकता है तथा साथ ही संघ में अच्छी तरह शान्तिपूर्वक जीवन बिता सकता है। अभिधम्म में हम जिन मनोनैतिक बातों का सूक्ष्म विश्लेषण एवं विवरण पाते हैं उनका विकास विनय-पिटक से होना असंभव है। तब यही कहा जा सकता है कि निश्चय ही सुत्तपिटक से अभिधम्म पिटक का कालान्तर में विकास

---

1. चुल्लवग्ग: प्रथम संगीति, -40
2. वही, 406-415

हुआ। धम्मञ्च विनयञ्च संगायेय्याम में 'धम्म' शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया गया है और इस शब्द में अभिधम्म भी सम्मिलित है। सुत्त पिटक के सुत्तों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वहाँ परमार्थ धर्म की बातें कही गई हैं। इसलिए यह कहना गलत नहीं होगा कि अभिधम्म के बीज उन सुत्तों में विद्यमान हैं। कालान्तर में भिक्षु विद्वानों ने इन सुत्तों को मथकर जो नवनीत निकाला वही अभिधम्म पिटक में संगृहीत है।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विवेचन करने पर भी यही बात सत्य प्रतीत होती है। क्योंकि हम देखते हैं कि अभिधम्म का विकास धीरे-धीरे हुआ और अभिधम्म की एक पुस्तक 'कथावत्थु' का प्रणयन अशोक के काल में हुआ। अभिधम्म की प्रथम पुस्तक धम्मसङ्गणि में हम जिस रूप में मनोनैतिक धर्मों की व्याख्या देखते हैं वह बौद्ध धर्म के आविर्भाव काल में नहीं रहा होगा। बुद्ध ने ज्ञान प्राप्ति के बाद लोगों को अपने धर्मों के उपदेश दिये। उनके उपदेश की शैली बहुल ही सरल एवं आकर्षक थी। यह बात सही है कि उनका धर्म अत्यन्त गंभीर, दुर्दर्श, शान्त, प्रणीत एवं अतर्कावचर था और अपने विशुद्ध रूप में पंडितों से ही जाना जाने योग्य था। ब्रह्मजाल सुत्त में उन्होंने ऐसा कहा भी है:-"अयं धम्मो गम्भीरो दुद्दसो सन्तो पणीतो अतक्कवचरो पंडितवेदनीयो।"[1] लेकिन ऐसे निगूढ़ धर्म को उन्होंने आम जनता में प्रचारार्थ एवं प्रसारार्थ जो शैली अपनाई वह बहुत ही उचित माध्यम कही जा सकती है। उपमाओं एवं दृष्यंतों के सहारे तथा वार्त्तालाप के सहारे उन्होंने इस गंभीर शाश्वत धर्म को लोगों को समझाया। इसलिए यह सम्भव नहीं लगता कि उन्होंने अपने द्वारा सुज्ञात धर्म को धम्मसङ्गणि[2] की शैली में लोगों के बीच रखा होगा। धम्मसङ्गणि में मनोनैतिक व्याख्या की गई है। और नाम (मन) और रूप (देह) के संबंध एवं व्यापारों को सूक्ष्म रूप से मातिकाओं के द्वारा समझाया गया है। धम्मसङ्गणि की पहली तिकमातिका 'कुसला धम्मा, अकुसला धम्मा, अव्याकता धम्मा' के द्वारा बौद्ध धर्म की मनोवैज्ञानिक विश्लेषणपूर्वक नैतिकता की व्याख्या की गई है। लेकिन यह शैली बड़ी ही नीरस है और पण्डिताऊ। बुद्ध ने अपने धर्म का प्रचार साधारण जनता में भी किया जहां यह शैली कदापि उपादेय सिद्ध नहीं हो सकती थी। साधारण जनता ने भला इस पण्डिताऊ एवं नीरस शैली से क्या लाभ पाया? इसलिए जिस रूप में अभी धम्मसङ्गणि हमें प्राप्त है उस रूप में बुद्ध के काल में नहीं ही रही होगी यह अविवादास्पद है। इसी तरह की बातें अभिधम्म की और पुस्तकों के बारे में कही जा सकती है। इसका विशद विवरण हम आगे के प्रकरण में करेंगे।

1. ब्रह्मजाल सुत्त, दी. नि.-27
2. धम्मसङ्गणि, 21, 97, 114

सुत्त पिटक के अध्ययन से हमें ऐसा मालूम पड़ता है कि भगवान बुद्ध ने वार्त्तालाप की शैली अपनाकर धर्म का प्रचार किया। भगवान बुद्ध प्रश्न करने वाले से भी प्रतिप्रश्न (परिपुच्छा) करके और उन्हीं से उत्तर पाकर उनके प्रश्न का उत्तर देते थे जैसा सामञ्ञफल सुत्त से स्पष्ट है। मगध राज अजात शत्रु ने जब भगवान बुद्ध से श्रमण बनने का लाभ पूछा तो भगवान बुद्ध ने उनसे प्रतिप्रश्न किया कि यदि उनका दास बौद्ध भिक्षु बन जाय तो वे क्या करेंगे। इस पर अजातशत्रु ने जो उत्तर दिया वह श्रमण बनने का सद्यः लाभ था। धीरे-धीरे भगवान बुद्ध ने और अन्य प्रणीत लाभों को बताया। इस तरह भगवान बुद्ध प्रश्न का उत्तर कभी-कभी प्रश्न से ही देते थे।

रूपावचर समाधि से जो लाभ साधक को होता है उसका विशद एवं स्पष्ट विवरण भगवान बुद्ध ने उपमाओं के सहारे दिया है। जब साधक कामच्छन्द, व्यापाद, थीनमिद्ध, उद्धच्चकुकुच्च और विचिकिच्छा नामक पाँच नीवरणों का प्रहाण कर समाधि का अभ्यास करता है तो उसको उसी तरह का सुख मिलता है जैसे रोगी को रोग से मुक्त होने पर, कैदी को कैद से मुक्त होने पर, दास को दासत्व से मुक्त होने पर, ऋणी को ऋण से मुक्त होने पर, मरुभूमि में खोये हुए को राह मिल जाने पर। समाधि लगने की पूर्वदशा का यह बड़ा ही सुन्दर वर्णन है। पुनः जब साधक समाधि का अभ्यास करने लगता हे तो उसको अलौकिक सुख मिलता है। उस सुख का दिग्दर्शन भगवान बुद्ध ने सामञ्ञफल सुत्त में कई उपमाओं के द्वारा कराया है। उन्होंने कहा है कि जिस प्रकार श्वेत या लाल कमल जल में ही उत्पन्न होता है, जल में ही रहता है, जल में ही बढ़ता है और जैसे-जैसे जल में वृद्धि होती है वैसे-वैसे वह भी ऊपर की ओर बढ़ता है और उसके अंग-प्रत्यंग में जल समाया रहता है ठीक उसी प्रकार से साधक का चित्त समाधिजन्य सुख से सराबोर हो उठता है। साधक को चित्त की एकाग्रता प्राप्त होने पर ज्ञान की अवाप्ति होती है। यह ज्ञान इतना स्पष्ट होता है कि साधक नामरूप को उसी प्रकार देखता है जैसे कोई साँप और पिटारी को देखे। पिटारी मे रहने वाला साँप जल्दी नहीं दिखलाई पड़ता। उसी तरह जिसके पास स्पष्ट ज्ञान नहीं है वह नाम और रूप के अभिसम्बन्ध को उतनी स्पष्टता से नहीं देख सकता। इस तरह भगवान बुद्ध ने सुन्दर उपमाओं के सहारे अपनी बातें लोगों को बताई। कसिभारद्वाज सुत्त[1] में उन्होंने अपनी आध्यात्मिक कृषि का वर्णन करते हुए कहा है कि मैं जो खेती करता हूँ उसका बीज श्रद्धा है, तपस्या वृष्टि है, प्रज्ञा मेरी जुआ और नंगल है आदि।

1. कसिभारद्वाज सुत्त, सु. नि.-281

सद्धा बीजं तपो वुट्ठि, पञ्ञा मे युगनङ्गलं।
हिरी ईसा मनोयोत्तं, सति में फाल पाचनं।।

इस तरह उन्होंने अपने सुत्तों में उपमाओं के सहारे धर्म का प्रचार किया है। अभिधम्म शब्द का प्रयोग अभिविनय शब्द के साथ-साथ क्रमशः धर्म और विनय सम्बन्धी गम्भीर उपदेश के अर्थ में सुत्त पिटक के कई सुत्तों में जैसे संगीति परियाय सुत्त[1] दसुत्तर सुत्त[2], गुलिस्सानी सुत्त[3], किन्ति सुत्त[4] तथा महागोसिंग सुत्त[5] में हुआ है। आचार्य बुद्धघोष ने अभिधर्म का अर्थ 'उच्चतर धर्म' या 'विशेष धर्म' किया है। अभिधम्म में 'अभि' उपसर्ग को उन्होंने अतिरेक का, विशेष का वाचक माना है।

'**अतिरेक विसेसत्थदीपको हि एत्थ अभि सद्दो**'[6]-ऐसा अट्ठसालिनी में कहा गया है। प्रसिद्ध महायानी आचार्य असंग ने अभिधम्म शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए निर्वाण के अभिमुख उपदेश करने के कारण, अभिमुखतः धर्म का अनेक प्रकार से वर्गीकरण करने के कारण (आभीक्ष्प्यात्), विरोधी सम्प्रदायों का खंडन करने के कारण अभिभवात एवं सुत्त पिटक के सिद्धान्तों का ही अनुगमन करने के कारण (अभिगतितः) अभिधम्म शब्द की सार्थकता दिखलाई है। अभिमुखतोऽथा भीक्षण्यादभिभवगतितोऽभिधर्मश्चे।[7] असंग की व्याख्या से भी यह स्पष्ट है कि अभिधम्म वस्तुतः सुत्त पिटक पर ही आधारित है। वहाँ जो सिद्धान्त वर्णित है उसी का अनुगमन अभिधम्म में किया गया है। डा० भरत सिंह उपाध्याय[8] के शब्दों में "सुत्तन्त की अधिचित्त शिक्षा यहाँ अधिप्रज्ञा शिक्षा हो गई है, उसकी व्यवहार देशना यहाँ परमार्थ देशना हो गई है किन्तु यह भेद सिर्फ शैली का है। आदेशना विधि का है। सुत्त सबके लिए सुगम है क्योंकि वहाँ बुद्धवचन अपने यथार्थ स्वरूप में रखे हुए हैं। अभिधम्म पिटक में बुद्ध मन्तव्यों का वर्गीकरण और विश्लेषण किया गया है। तात्विक और मनोवैज्ञानिक दृष्टियों से उन्हें गणनाबद्ध किया गया है। अतः जबकि सुत्त पिटक का निरूपण जन साधारण के लिए उपयोगी है, अभिधम्म पिटक की

---

1. संगीति परियाय सुत्त, दी.नि. III -166
2. दसुत्तर सुत्त, दी. नि. III -210
3. गुलिस्साना सुत्त, म० नि०-779; गोलियानी सुत्त, म० नि०, -156
4. किन्ति सुत्त-म० नि० III 31
5. महागोसिंग सुत्त, म० नि० I -263
6. अट्ठसालिनी, -2
7. असंग
8. पालि साहित्य का इतिहास (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 2000)-426

सूचियों एवं परिभाषाओं में वे ही चुने हुए व्यक्ति रुचि ले सकते हैं जिन्होंने बौद्ध तत्व दर्शन को अपने अध्ययन का विशेष विषय बनाया है। इसी अर्थ में अभिधम्म पिटक को उच्चतर धर्म या विशेष धर्म कहा गया है। सुत्त-पिटक में यदि बौद्ध परम्परा के लिए अधिचित्त शिक्षा है, विनय में अधिशील शिक्षा है तो अभिधम्म में है अधिप्रज्ञा शिक्षा।''

अभिधम्म साधारण मनुष्य के लिए नहीं लिखा गया। इसके प्रणयन के सम्बन्ध में जो परम्परा है उससे यह बात प्रमाणित होती है। अट्ठसालिनी[1], मनोरथपूरणी[2] ओर विभङ्ग अट्ठकथा[3] से यह स्पष्ट है कि शास्ता ने अभिधम्म का उपदेश सर्वप्रथम तावतिंस लोक में अपनी माता और अन्य देवताओं को दिया था। स्पष्ट ही है कि जो बात देवताओं को कही गई वह साधारण जन के लिए नहीं हो सकती। बौद्ध परम्परा यह भी मानती है कि कालान्तर में जो उपदेश बुद्ध ने अपनी माता एवं अन्य देवताओं को दिया था उसी की पुनरावृत्ति उन्होंने अपने महाप्रज्ञ शिष्य धर्मसेनापति सारिपुत्त के समक्ष की थी और सारिपुत्त ने उसे पाँच सौ भिक्षुओं को बताया था। इस परम्परा से भी इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि अभिधम्म में इतनी गहराई ओर सूक्ष्मता है कि यह साधारण मनुष्य के लिए आसानी से ग्राह्य नहीं है। सुत्त में धर्म को अनेक पर्यायों के माध्यम से समझाया गया है लेकिन अभिधम्म 'निप्परियाय देसना' है। यहाँ धर्म का तात्विक विवेचन किया गया है। इस विवेचन से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि इसका विकास अवश्य ही बाद मे हुआ है।

जैसा हमने ऊपर कहा है थेरवादी बौद्ध परम्परा अभिधम्म को बड़ी श्रद्धा से देखती है और उसे बुद्धवचन मानती है। बुद्धघोष जैसे महान अट्ठकथाकार ने पाँचवी शताब्दी में प्रणीत अपनी अट्ठसालिनी में यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि अभिधम्म पिटक बुद्धवचन ही है। उन्होंने अट्ठसालिनी[4] की निदान कथा में यह कहा है कि जिस प्रकार मधुपिण्डिक सुत्त या सम्मादिट्ठि सुत्त बुद्ध के शिष्यों द्वारा उपदिष्ट होने पर भी बुद्ध के द्वारा अनुमोदित किये जाने के कारण बुद्धवचन कहलाते हैं उसी

---

1. "अपर भागस्मिं हि तथागतो तावतिंसभवने
   पारिच्छत्तकमूले पण्डुकम्बलसिलायं दस
   सहस्सचक्कवालदेवतानं मज्झे निसिन्नो मातरं
   कायसक्खिं कत्वा कुसला धम्मा, अकुसला धम्मा, अब्याकता धम्मा।" अट्ठसालिनी, पृ० 14.
2. मनोरथपूरणी, -113, 138
3. विभङ्ग अट्ठकथा-(सम्मोहविनोदनी नाम विभङ्गकट्ठकथा), -12, 527
4. अट्ठसालिनी-निदानकथा-4

प्रकार अभिधम्म पिटक के ग्रंथ कथावत्थु को जिसका प्रणयन अशोक के काल में हुआ बुद्धवचन कहा जा सकता है। उन्होंने ऐसा कहा है कि बुद्ध वचन से तात्पर्य उन वचनों से है जो बुद्ध भाषित हैं अथवा बुद्धानुमोदित हैं। कथावत्थु नामक अभिधम्म ग्रंथ की मोटी रूप रेखा भगवान बुद्ध भाषित है अथवा बुद्धानुमोदित है। कथावत्थु नामक अभिधम्म ग्रंथ की मोटी रूप रेखा भगवान बुद्ध ने तैयार की थी। मोग्गलिपुत्ततिस्स थेर ने इसे व्याख्यायित किया। बुद्धघोष का यह कथन श्रद्धा से उत्पन्न अधिक लगता है किन्तु ऐतिहासिक दृष्टिकोण से सही नहीं जान पड़ता। बुद्धघोष ने बहुत ही आयासपूर्वक अभिधम्म को बुद्धवचन प्रमाणित करने के क्रम में यह दिखाया है किन्तु 'धम्मकथिक' शब्द बुद्धकाल में विद्यमान था और इस शब्द से उन्होंने यह दिखाने का प्रयास किया है कि यह अभिधम्मिक भिक्षु के लिये आया है। लेकिन ऐसा सोचना दूर की कौड़ी हाँकना है। 'धम्मकथिक' शब्द से अभिधम्म की विद्यमानता दिखलाना उचित नहीं जान पड़ता है। वस्तुस्थिति तो यह है कि महाकस्सप के 'धम्मञ्च विनयञ्च संगायेय्याम' में धम्म शब्द में ही अभिधम्म की बातें सन्निहित हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो महाकस्सप 'सुत्तञ्च विनयञ्च अभिधम्मञ्च संगायेय्याम'' क्यों नही कहते ?

बुद्ध का तावतिंस जाकर अपनी माँ को अभिधम्म का उपदेश देना भी ऐसा कथन है जो ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विश्वसनीय नहीं है। यह उन लोगों के मन की ऊपज है जो बुद्ध में प्रभूत श्रद्धा रखते थे। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से तो यही सही मालूम पड़ता है कि अभिधम्म की पुस्तकों का प्रणयन शनैः शनैः विनय पिटक और सुत्त पिटक के बाद ही हुआ। यदि अभिधम्म पिटक भी जिस रूप में अभी प्राप्त है उसी रूप में बुद्ध द्वारा उपदिष्ट होता तो वैशाली की संगीति में इस पर प्रश्न चिह्न क्यों लगाया जाता? स्थविरवादी बौद्ध परम्परा तो यह कहती है कि अभिधम्म उसी रूप में बुद्धवचन है जिस तरह सुत्त किन्तु बौद्ध धर्म के दूसरे सम्प्रदाय इस बात को नहीं मानते। सर्वास्तिवादियों ने स्थविरवादी बौद्ध परम्परा के इस दावे को कि अभिधम्म बुद्धवचन है द्वितीय संगीति में ही नहीं माना। अशोक के काल में महेन्द्र अभिधम्म पिटक को भी श्रीलंका ले गये और वहाँ यह श्रद्धा से देखा जाने लगा, लेकिन यह अभिधम्म पिटक बुद्ध उपदिष्ट नहीं था। बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात् अशोक के समय तक लगभग सवा दो सौ वर्षो का अन्तराल था और इसी अन्तराल में अभिधम्म का विकास हो गया और इसकी सातों पुस्तकों का रूप स्थिर हो गया जिनको महेन्द्र श्रीलंका लेकर गये। अभिधर्म का स्वरूप इस प्रकार स्थिर हो गया था कि जब से यह लंका ले जाया गया तब से लेकर बुद्धघोष के समय तक इसमें कोई

भी परिवर्तन नहीं हुआ। यह गुरु शिष्य परम्परा द्वारा अक्षुण्ण रखा गया। बुद्धघोष का यह कथन जैसा भरत सिंह उपाध्याय[1] ने कहा है कि ऐतिहासिक दृष्टिकोण से बड़ा ही महत्वपूर्ण है। लंका में इसमें कोई परिवर्तन न होना इस बात का द्योतक है कि यह अशोक के काल तक पूर्णता प्राप्त कर चुका था और जब वट्टगामिनी अभय के समय (ई० पूर्व 29 ई० में) बुद्धवचन लिपिबद्ध होने लगा तो इसको भी लिपिबद्ध किया गया।

स्थरविरवादियों ने अभिधम्म के प्रणयन के विषय में क्यों अलौकिकता का पुट दिया है इस बात को द्वितीय संगीति में उठे विवाद से समझा जा सकता है। चूँकि सर्वास्तिवादियों ने अभिधम्म के बुद्धवचन होने की प्रामाणिकता पर प्रश्न चिह्न लगा दिया इसलिए स्थविरवादियों को बाध्य होकर यह अलौकिक कल्पना करनी पड़ी कि बुद्ध ने सर्वप्रथम तावतिंस लोक में जाकर अपनी माता को अभिधम्म का उपदेश दिया। सभी धर्मों के संस्थापकों के बारे में समय बीतने पर अलौकिकता आ ही जाती है। जैसे यह कहा जाता है कि ईसामसीह सूली पर चढ़ाये जाने के तीसरे दिन अपनी कब्र से उठकर ईश्वर पिता के पास पहुँचे गये। उसी तरह बुद्ध को भी तावतिंस लोक में जाते हुए दिखाया गया है। बाद में रचा गया महायान साहित्य की बुद्ध जीवनियों[2] में तो बुद्ध के आकाश मार्ग से लंका गमन की बात कही गई है जो निश्चय ही ऐतिहासिक दृष्टिकोण से बिल्कुल गलत है। इसे ही अर्थवाद कहा जाता है। जिस तरह विनय-पिटक में वर्णित नियमों का विकास भी उत्पन्न परिस्थितियों से कालक्रम से हुआ, उसी प्रकार अभिधम्म का भी विकास हुआ।

किन्तु सर्वास्तिवादी भी इस बात से सहमत हैं कि प्रथम संगीति से ही अभिधम्म का विकास होने लगा था-यह निःसन्देह है। उनका कहना है कि अभिधम्म का मातिकाओं के रूप में संगायन प्रथम संगीति के अवसर पर आर्य महाकस्सप ने किया था। बुद्ध ने अपने उपदेश पैंतालीस वर्षों तक दिये थे। कुछ सुत्तों में गणना प्रणाली भी उन्होंने अवश्य ही प्रारम्भ की होगी जिसका वृहत्रूप हमें अंगुत्तर निकाय में देखने को मिलता है। इसी को आधार मानकर महाप्रज्ञ भिक्षुओं ने भी मातिका के रूप में अभिधम्म को रखने की बात सोची होगी। चूँकि इस समय विद्या को कण्ठस्थ करने की परम्परा थी इसलिए अभिधम्म की दुरूह बातों को मातिका के रूप में रखने की बात भिक्षुओं ने सोची होगी क्योंकि मातिकायें कण्ठस्थ करने में आसान होती हैं। विनयपिटक के चूळवग्ग[2] में धम्मधर विनयधर एवं मातिकाधर पंडितो की चर्चा है।

---

1. पालि साहित्य का इतिहास -431
2. चूलवग्गपालिं-210

यहाँ मातिकाधर पंडित से क्या तात्पर्य है? अवश्य ही इससे किसी विशेष ग्रंथ का बोध न होकर सिद्धान्तात्मक सूचियों का बोध होता है जिनका उपयोग भिक्षु लोग स्मरण करने की सुगमता के लिए करते हैं।

सुत्त पिटक के दीघनिकाय[1] एवं मज्झिम निकाय[2] तथा अंगुत्तर निकाय[3] में अनेक ऐसे सुत्त हैं जो संख्याबद्ध हैं। ई० हार्डी के अनुसार अभिधम्म पिटक का आधार अंगुत्तरनिकाय ही है। मातिका ही अभिधम्मपिटक का आधार है। यह इस बात से भी प्रमाणित होता है कि महायानी परम्परा के संस्कृत बौद्धग्रंथों में अभिधम्म के लिए मात्रिका शब्द का ही प्रयोग किया गया है।

बुद्धघोष की अट्ठकथाओं जैसे सुमंगलविलासिनी, अट्ठसालिनी एवं समन्त-पासादिका में यह कहा गया है कि अभिधम्म का संगायन भी प्रथम संगीति में ही हुआ। यह बात कदापि स्वीकार्य नहीं हो सकती। भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने ठीक ही कहा है कि विनय और धम्म के साथ-साथ अभिधम्म का भी संगायन इसी संगीति में हुआ जो समन्त पासादिका का कहना है वह तो स्पष्ट रूप से गलत है।[4] लेकिन इतना कहा जा सकता है कि भगवान बुद्ध ने अपने सुत्तों में संख्याबद्ध सूची का कहीं-कहीं प्रयोग किया है तथा स्मरण रखने को सुगम बनाने के लिए मातिकाओं का विकास इसी समय से प्रारम्भ अवश्य ही हो गया होगा। इसीलिए भरत सिंह उपाध्याय का यह कहना कि अभिधम्म पिटक के विकास की ऊपरली सीमा बुद्ध का काल है और निचली सीमा अशोक का काल है सही है। इस अन्तराल में अभिधम्म का पूरी तरह से विकास हो गया था और जब यही अभिधम्म पिटक महेन्द्र द्वारा लंका ले जाया गया तो इसको पूर्ण बनाने की तथा इसमें परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं समझी गई।

अभिधम्म की पुस्तकों का भी एक ही समय में प्रणयन हुआ हो ऐसी भी बात नहीं है। विद्वान ऐसा मानते हैं कि कथावत्थु की रचना अशोक के काल में हुई तो धम्मसङ्गणि अवश्य ही सर्वप्रथम रची गई होगी। धम्मसङ्गणि की मातिकायें इस कथन को सही प्रमाणित करती हैं। मातिकायें सर्वप्रथम रची गई होंगी जो एक तरह से सूत्र हैं और इनकी व्याख्या बाद में की गई होगी।

---

1. दीध निकाय III दसुत्तर सुत्त, -210
   सङ्गीति परियाय सुत्त -166
2. म. नि. III सलायतन विभङ्ग सुत्त एवं- धातु विभङ्ग सुत्त -297-322
3. अं. नि. 1 से लेकर 11 निपातों में बंटा है।
4. देखें, पालि साहित्य का इतिहास, -437

अभिधम्म की सात पुस्तकों के प्रणयन काल का विवेचन विद्वानों ने किया है। परम्परा यह मानती है कि अभिधम्म पिटक की पुस्तकों का क्रम निम्नलिखित है:- **धम्मसङ्गणि, विभङ्ग, धातु कथा, पुग्गलपञ्ञत्ति, कथावत्थु, यमक** और **पट्ठान**। मिलिन्दपञ्हो में भी यही क्रम प्राप्त है। **अट्ठसालिनी** की निदान कथा में भी इसी क्रम से अभधर्म की सात पुस्तकों को गिनाया गया है। सुमंगल विलासिनी की निदान कथा में जो क्रम का परिवर्त्तन दीखता है वह सम्भवतः छन्द के कारण हुआ है। पालि के बड़े-बड़े विद्वान जैसे विन्टरनित्ज, गायगर, ज्ञानातिलोक एवं लाहा आदि विद्वानों ने इसी क्रम का अनुसरण किया है। विषय की दृष्टि से परीक्षण करने पर भी यही क्रम स्वाभाविक लगता है। लेकिन कालक्रम से यह उचित नहीं मालूम पड़ता है। यदि अशोक के काल में कथावत्थु की रचना की बात हम सही मानते हैं और यह सही है भी तो यह मान लेना पड़ेगा कि अभिधम्म की सातों पुस्तकों का प्रणयन तब तक निश्चित रूप से हो चुका था। महेन्द्र इसी पूर्ण अभिधम्म पिटक को लेकर लंका गये जहाँ इसमें कोई परिवर्तन नहीं किया गया। यदि अभिधम्म अपूर्ण रहता तो लंका के स्थविर विद्वान भी इसमें कुछ-न-कुछ परिवर्तन अवश्य कर देते।

भरत सिंह उपाध्याय ने ए० पिरोरा का मत उद्धृत किया है। उनका मत है कि आन्तरिक साक्ष्य के आधार पर **धम्मसङ्गणि विभङ्ग** और **पट्ठान** प्राचीनतम ग्रंथ है[1] एवं उनका संगायन द्वितीय संगीति के अवसर पर हुआ था। **धातुकथा यमक** और **पट्ठान** को उन्होंने अशोक काल के पूर्व की रचनायें माना है और इनका संगायन उनके अनुसार तृतीय संगीति में हुआ था।[2] **कथावत्थु** का प्रणयन तो निश्चित रूप से तृतीय संगीति में हुआ था।

डा० लाहा ए० पिरोरा के इस मत से सहमत नहीं है। उनके अनुसार अभिधम्म का प्राचीनतम ग्रंथ पुग्गलपञ्ञत्ति है। उनका तर्क यह है कि अभिधम्म पिटक सुत्तपिटक पर ही आधारित है, इसलिये सुत्तपिटक की बातें जिस हद तक स्पष्ट रूप से अभिधम्म की किसी पुस्तक में मिलती हैं उसी पुस्तक को प्राचीनतम मानना तर्कसंगत होगा। **पुग्गलपञ्ञत्ति** चूँकि सुत्त पिटक पर अधिक अवलंबित है इसीलिए वही प्राचीनतम है। **पुग्गल पञ्ञत्ति** के 'तयो पुग्गला', 'चत्तारो पुग्गला', 'पञ्च पुग्गला' आदि भाग अंगुत्तर निकाय के क्रमशः तिक निपात चतुक्क निपात, और पञ्चम निपात आदि के समान ही है। इसीलिए यह प्राचीनतम है। साथ ही उन्होंने 'यह

1. देखें, पालि साहित्य का इतिहास, -376
2. पालि साहित्य का इतिहास, -437

भी दिखाया है कि **पुग्गल-पञ्ञत्ति** और दीघ निकाय के **संगीति परियाय सुत्त** में अनेक समानतायें है। डा० मौरिस[1] ने यह प्रमाणित कर दिया है कि पुग्गल पञ्ञति शैली और विषय दोनों की दृष्टि से अभिधम्म पिटक की अपेक्षा सुत्त पिटक के अधिक निकट है। भिक्षु जगदीश काश्यप, डा० मौरिस के इस कथन से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि **पुग्गलपञ्ञत्ति** के नहीं रहने पर भी अभिधम्म की पूर्णता में कोई कमी नहीं आती है। अभिधम्म में जिस विषय की गंभीरतम चर्चा है उस तरह की चर्चा **पुग्गलपञ्ञत्ति** में नहीं पाई जाती। यह सही है कि उसमें अभिधम्म की शैली का अनुसरण किया गया है किन्तु अभिधम्म का जो गंभीर विषय है वह उसमें विवेचित नहीं है। फिर भी लाहा ने **पुग्गलपञ्ञत्ति** को ही प्राचीनतम ग्रंथ माना है। **पुग्गलपञ्ञत्ति** के समान **विभङ्ग** का भी डा० लाहा ने विवेचन कर यह दिखलाया है कि सच्च विभङ्ग सतिपट्ठान विभङ्ग और धातु विभङ्ग मज्झिम निकाय के क्रमश: सच्च विभङ्ग सुत्त, महासतिपट्ठान सुत्त और धातु विभङ्ग सुत्त पर आधारित है। **विभङ्ग** के कई अंश पसिभ्भिदा मग्ग पर भी आधारित है यह अभिधम्म पिटक की दूसरी पुस्तक है। उनका कहना है कि जिस समय तक ये दो पुस्तकें रची गईं उस समय तक अभिधम्म शैली का पूर्णत: विकास नहीं हुआ था। वे अभिधम्म की शैली से मुक्त थे। अभिधम्म शैली का विकसित रूप **धम्मसङ्गणि** में दिखाई पड़ता है। इसलिए जबकि परम्परा उसे प्रथम पुस्तक मानती है डा० लाहा उसे दूसरी पुस्तक मानते हैं। **धातुकथा धम्मसङ्गणि** का ही पूरक रूप है। इसलिए **धातुकथा** अभिधम्म की चौथी पुस्तक है। **विभङ्ग के** एक भाग पच्चयाकार विभङ्ग का ही विस्तृत निरूपण पट्ठान में मिलता है। चूंकि धम्मसङ्गणि, धातुकथा, यमक पट्ठान और विभङ्ग पर आधारित है, इसलिए ये बाद के ग्रंथ हैं। डा० लाहा ने अन्तत: जो क्रम माना है वह निम्नलिखित है:-पुग्गलपञ्ञत्ति, विभङ्ग, धम्मसङ्गणि, धातुकथा, यमक, पट्ठान और और कथावत्थु[2]।

भरत सिंह उपाध्याय के अनुसार डा० लाहा का यह कथन कि **पुग्गलपञ्ञत्ति** प्रथम और कथावत्थु अभिधम्म की अंतिम पुस्तक है सही है किन्तु उनका यह कथन कि विभङ्ग की रचना धम्मसङ्गणि के पहले हुई है यह युक्ति-युक्त नहीं है क्योंकि डा० लाहा ने विषय वस्तु से शैली को अधिक महत्व देकर यह निष्कर्ष निकाला है कि धम्मसङ्गणि विभङ्ग के बाद की रचना है। उनके इस निष्कर्ष पर पहुँचने के दो मुख्य आधार थे। प्रथम यह कि विभङ्ग में सुत्तन्तभाजनीय और अभिधम्मभाजनीय ही

1. पालि साहित्य का इतिहास-438
2. वही 439

हैं। द्वितीय यह कि उद्देश और निद्देश दोनों में ही है, विभङ्ग में उद्देश की प्रधानता है और धम्मसङ्गणि में निद्देश की। उद्देश का अर्थ विषय का नामकरण है और निद्देश उसकी व्याख्या है। विभङ्ग में रूप की चर्चा है किन्तु रूप 28 प्रकार के होते हैं, इसका निद्देश रूप से कथन धम्मसङ्गणि में है। इसलिए डा० लाहा धम्मसङ्गणि को विभङ्ग के बाद की रचना मानते हैं।

लेकिन गहराई में जाने से यह बात तर्कसंगत प्रतीत नहीं होती। ऐसा लगता है कि डा० लाहा ने शैली को अपने निष्कर्ष का आधार बनाया है और विषय वस्तु की उपेक्षा की है। यदि हम विषय वस्तु के दृष्टिकोण से देखें तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि धम्मसङ्गणि विभङ्ग के पूर्व की रचना है। जहाँ तक शैली का प्रश्न है वहाँ विभङ्ग और धम्मसङ्गणि दोनों में समानता है क्योंकि दोनों में सुत्तन्तभाजनीय और अभिधम्मभाजनीय धर्मों का वर्णन है। इस तरह का तर्क देकर भरत सिंह उपाध्याय ने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि धम्मसङ्गणि विभङ्ग के पूर्व की रचना है और उनके अनुसार अभिधम्म की सातों पुस्तकों का क्रम इस प्रकार है– पुग्गलपञ्ञत्ति, धम्मसङ्गणि, विभङ्ग, धातुकथा, यमक, पट्ठान और कथावत्थु[1]।

मेरे विचार से अभिधम्म की पहली पुस्तक धम्मसङ्गणि होनी चाहिए क्योंकि उसमें मातिकायें हैं तथा उनकी व्याख्या है। धर्म का संक्षिप्त रूप में, सूत्र रूप में कथन है तथा उसकी व्याख्या भी दी गई है। धम्मसङ्गणि वस्तुतः अभिधम्म की मूलभूत पुस्तक है क्योंकि इसी में सर्वप्रथम मानसिक एवं भौतिक जगत की पुंखानुपुंखी एवं सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्याख्या की गई है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पाँचो स्कंधों की गहराई से व्याख्या की गई है और अनात्मवाद का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है। वस्तुतः अभिधम्म का मूलभूत उद्देश्य भी तो यही है। और इस दृष्टिकोण से **धम्मसङ्गणि** अभिधम्म की पहली पुस्तक होनी चाहिए। **पुग्गलपञ्ञत्ति** में भिन्न-भिन्न प्रकार के लोगों की चर्चा तो है लेकिन मनुष्य के भौतिक और मानसिक जगत का विश्लेषण यहाँ गहराई में नहीं पाया जाता है। इसलिए **पुग्गलपञ्ञत्ति** को अभिधम्म की पहली पुस्तक नही माना जाता जैसा डा० लाहा और भरत सिंह उपाध्याय ने माना है।

अभिधम्म का स्रोत सुत्त है इसमें विवाद का कोई प्रश्न नहीं उठता। भगवान बुद्ध ने अपनी चारिका के क्रम में लोगों को जो उपदेश दिये उसका एकमात्र उद्देश्य यह था कि मनुष्य राग, द्वेष और मोह से छुटकारा पाये और निर्वाणोन्मुख हो दुःख से त्राण पाये, इसलिए उन्होंने धर्म की गहराई में जाकर बारीकी से व्याख्या कर अनात्मवाद

1. वही 442

के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया ताकि प्रिय और शाश्वत समझकर मनुष्य किसी वस्तु के प्रति आर्कषितं हो आसक्त न होता रहे। उपनिषद् में कहा गया है कि "आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति" अर्थात् जब हम आत्मा को मान लेते हैं तभी वे सभी वस्तुएँ हमें प्रिय लगती हैं जो आत्मा के काम की हैं। भगवान बुद्ध ने ठीक इसके विपरीत यह कहा कि आत्मा है ही कहाँ? इसलिए कौन-सी वस्तु प्रिय होगी और किसको होगी, न कोई है और न किसी को प्रिय लगने वाली वस्तु ही है। इसलिए राग करना क्या? और किसी को यदि मेरी इच्छित वस्तु मिल भी जाती है तो द्वेष करना क्या? मतलब यह कि अभिधम्म हमें सम्यक ज्ञान देता है ताकि हम भौतिक एवं मानसिक जगत की वास्तविकता को समझ सकें।

अभिधम्म वस्तुतः परमार्थ की 'निप्परियाय देसना' है अर्थात् भगवान बुद्ध ने इसमें परमार्थ के बारे में बिना किसी उपमा और दृष्यंत के सहारे देशना दी है। इसलिए यह अतिरेक धर्म है, विशेष धर्म है, जैसा बुद्धघोष ने व्याख्यायित किया है। भगवान बुद्ध ने अपनी चारिक के क्रम में जो उपदेश दिये वे साधारण जनता के हृदय में शीघ्र प्रवेश कर जाते थे। अभिधम्म में पण्डितों ने उनके उपदेशों का नीचोड़ रख दिया है जो अधिक शास्त्रीय हो गया है।

अभिधम्म में चार परमार्थों का वर्णन है। चित्त चैतसिक, रूप तथा निब्बान[1] प्रथम तीन में मानसिक एवं भौतिक जगत की बातें सन्निहित हैं।

मेरा यह मानना है कि अभिधम्म का उपदेश बुद्ध ने ही दिया है, क्योंकि बुद्ध के ज्ञान में अभिधम्म की ही बातें हैं। लेकिन मेरा मानना यह भी है कि अभिधम्म पिटक की सात पुस्तकों का प्रणयन कालक्रम से बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद हुआ और इसके सारे तत्व सुत्त पिटक के ग्रंथो में यत्र-तत्र बिखरे हैं, जिसे मैने अपने शोध प्रबंध में दिखाने का प्रयास किया है।

लेकिन थेरवादी भिक्षुओं का यह मानना है कि अभिधम्म पिटक अभी जिस रूप में है उसको भी भगवान बुद्ध ने उसी रूप में कहा तथा श्रीमती रीज डेविड्स का यह मानना कि अभिधम्म का उपदेश बुद्ध ने दिया ही नहीं है और इसका विकास बहुत बाद में बौद्ध भिक्षुओं द्वारा किया गया-ये दोनों सिद्धान्त भी दो अतियां हैं। पहला अंध श्रद्धाजन्य है और दूसरा सिद्धान्त हड़बड़ी में कुछ शब्दों के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर स्थापित है। हम यहाँ श्रीमती रीज डेविड्स के विचार की समीक्षा प्रस्तुत करेंगे तथा ञाणपोणिक महाथेर एवं पेलिन वजिरञाण का विचार भी रखेंगे। श्रीमती

---

1. अभिधम्मत्थसङ्गहो-1 (परमार्थ धर्म) नवनीत टीका-पृ० सं०-8

रीज डेविड्स का मानना है कि अभिधम्म का उपदेश बुद्ध ने नहीं दिया है[1], और इसका विकास बहुत बाद में बौद्ध भिक्षुओं द्वारा किया गया और इसी आधार पर उनका कहना है कि मज्झिम निकाय का 'अनुपद सुत्त' बाद में सम्पादकों द्वारा जोड़ा गया है[2]। यह बुद्ध द्वारा उपदेशित सुत्त नहीं है। इसे वे इस सुत्त में प्रयुक्त किये दो शब्दों 'अनुपद' और 'ववत्थित' के अन्तः साक्ष्य से प्रमाणित करती हैं कि चूँकि 'अनुपद' प्राचीन साहित्य में प्रयुक्त नहीं है अर्थात् पुराने सुत्तों में इसक प्रयोग नहीं हुआ है अतः इस नतीजा पर पहुँचा जा सकता है कि यह बाद के भिक्षु सम्पादकों द्वारा जोड़ा गया अंश है। ञाणपोणिक थेर इससे सहमत नहीं है। उनका कहना है कि इस शब्द का प्रयोग बाद के पालि साहित्य में भी नहीं पाया जाता। इसलिए हमलोग इस आधार पर कोई नतीजा नहीं निकाल सकते। यदि यह शब्द पुराने पालि साहित्य में नहीं पाया जाता तो बाद के पालि साहित्य में भी इसका अत्यधिक प्रयोग कहाँ मिलता है? चूंकि इस शब्द का प्रयोग बहुत कम है अतः जिस नतीजे पर श्रीमती डेविड्स पहुँचती है समीचीन नहीं मालूम पड़ता[3]। इस सुत्त में आये दूसरे शब्द 'ववत्थित' के आधार पर भी वे इसी नतीजे पर पहुंचना चाहती हैं। उनका कहना है कि यह शब्द पुराने पालि साहित्य में नहीं पाया जाता पर बाद के साहित्य जैसे पटिसम्भिदामग्ग, विभङ्ग तथा विसुद्धिमग्ग में पाया जाता है। ञाणपोणिक थेर का कहना है कि 'ववत्थित' कोई परिभाषिक शब्द नहीं है। इसलिए इस आधार पर किसी ग्रंथ का तिथि निर्धारण करना कतई समीचीन नहीं होगा।[4]

जैसा ञाणपोणिक थेर जी ने कहा है श्रीमती रीज डेविड्स अनुपद सुत्त के बारे में जिस नतीजे पर जिस तरह से पहुँचती है वह शीध्रता में लिया गया निर्णय है। साथ ही यह विचार दुराग्रहपूर्ण भी लगता है।[5]

अभिधम्म के तत्व तो सुत्तों में बिखरे पड़े हैं–नहीं, भरे पड़े हैं। ञाणपोणिक थेर भी यही मानते हैं [6]। लेकिन जिस तरह अभिधम्म का स्वरूप हमें अभिधम्म पिटक में

---

1. Abhidhamma is not the message of the founder, it is the work of the monkish world that grew up after him-A Buddhist Manual of Psychological Ethics 2nd Edition London 1923 Quoted on p. 55 by Nyana Ponika Thera in his Abhidamma Studies. Abhidhamma Studies Buddhist Publicatoin Society Kandy 1976.
2. देखें, वही.
3. Though 'Anupada' does not occur frequently in the Piṭakas, it is also not at all an expression characterisitic of any later period of Pali Literature so we cannot draw any conclusion from the mere fact or rare occurrence. Abhidhamma Studies, Buddhist publication Society Kandy 1976.
4. वही
5. वही
6. वही

मिलता है-वैसा स्वरूप सुत्तों में नहीं है। भगवान बुद्ध का बोधिप्राप्ति के बाद प्रधान उद्देश्य लोगो में निर्वाण का संदेश देना था, बताना था कि लोग कैसे निर्वाण प्राप्त कर भवचक्र से छुटकारा प्राप्त कर सकते हैं और दु:ख से विमुक्त हो सकते हैं। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु उन्होंने दु:ख के बारे मे, इसके कारण के बारे में, इसके निरोध क बारे में तथा इसके निरोध की ओर ले जाने वाले मार्ग के बारे में ही बताया। कैसे तृष्णा उत्पन्न होती है-इसके क्या हेतु हैं तथा इसको कैसे मिटाया जा सकता है-इसके बारे में ही वे जीवन भर बताते रहे। अत: अभिधम्म बाद का प्रक्षेप है यह कहना तथ्य के विपरीत होगा। अभिधम्म के तत्व तो सुत्तों में हैं ही, अभिधम्म पिटक की पुस्तकों का प्रणयन अवश्य बाद में हुआ है। थेरवादी परम्परा यह मानती है कि भगवान बुद्ध ने सर्वप्रथम तावतिंस लोक में अपनी माँ तथा वहाँ के देवताओं को अभिधम्म का उपदेश दिया। अभिधम्म की उत्पत्ति तो उसी रात को हुई थी जिस रात भगवान बुद्ध को बोधि वृक्ष के नीचे ज्ञान की प्राप्ति हुई। फिर वे वहाँ सात सप्ताह तक रहे और प्रतीत्यसमुत्पाद को अनुलोम और प्रतिलोम क्रम से जाना। इसलिए यह कहना तो समीचीन है ही कि अभिधम्म बुद्ध का विषय है। अभिधम्म गहन आत्म निरीक्षण का फल है-उस आत्म निरीक्षण का, जो प्रज्ञा से प्राप्त है। विषय दुरूह रहने के कारण ही बुद्ध ने सर्वप्रथम इसे देवताओं को कहा और इसकी मातिकाओं को अर्हत सारिपुत्र को कहा जिनकी प्रज्ञा बड़ी तीक्ष्ण थी। इस थेरवादी परम्परा से यह सुज्ञात है कि इस जटिल और दुरूह विषय को भगवान बुद्ध ने मनुष्यों को उस तरह उपदिष्ट नहीं किया जिस तरह उन्होंने सुत्तों को कहा अर्थात् अभिधम्म के ग्रंथ सुत्तपिटक के ग्रंथ की तरह नहीं हैं। इनका प्रणयन तो निश्चय ही बाद में हुआ है।

इस परम्परा की मनोवैज्ञानिक व्याख्या भी इस तरह की जा सकती है जैसा ञाणपोणिक थेर ने किया है। उनका कहना है कि देवलोक में जाकर उपदेश करने का अर्थ यह है कि अभिधम्म की उत्पत्ति इस लोक की मानसिकता से ऊपर की मानसिकता से संबंधित है अर्थात् अभिधम्म की बातें बिना ध्यान, बिना साधना किये समझ में नहीं आ सकतीं।

"If one wishes to give a psychological interpretation to that traditional account, one might say that the sojourn in the world of gods may refer to periods of intense contemplation transcending the reaches of an earth-bound mentality, and that from the heights of that contemplation its fundamental teachings were brought back to the world of normal human consciousness and handed over to philiosophically gifted disciples like the venerable Sariputta"[1]

1. वही.

ञाणपोणिक महाथेर ने भी इस बात को बार-बार कहा है कि सुत्त पिटक में शुद्ध अभिधम्म के बहुत सारे तत्व हैं।[1]

बहुत सारे विद्वान इस विचार से सहमत नहीं है पर ध्यान से देखने पर यह बात बहुत दूर तक सही मालूम पड़ती है।

सुत्त और अभिधम्म का बड़ा गहरा संबंध है। इस संबंध को स्वर्गीय पेलीन वजिरञाण, महानायक थेर वजिराराम, श्रीलंका को उद्धृत कर दर्शाया जा सकता है।

''अभिधम्म एक शक्तिशाली शीशा है जिसमें कोई वस्तु साफ-साफ और वृहत्रूप में दिखाई पड़ती है, पर सुत्त से जो जानकारी प्राप्त होती है वह अपने आप में चक्षु है जो देखने का काम करता है। पुनः अभिधम्म दवा की बोतल है जिसपर सटे लेबुल में दवा को विश्लेषित कर दिया गया है लेकिन सुत्तों से प्राप्त ज्ञान दवा है जो रोग दूर कर सकती है जो दुःख को दूर कर सकती है, उस दुःख को जिसका मूल तृष्णा है जो अविद्या से उत्पन्न होती है।

The Abhidamma is like a powerful magnifying glass, but the understanding gained from the suttas is the eye itself, which performs the act of seeing. Again, the Abhidhamma is like a medicine container with a label giving an exact analysis of the medicine, but the knowledge gained from the suttas is the medicine itself which alone is able to cure illness and its symptoms, namely craving rooted in ignorance and the suffering caused by it.[2]

1. वही.
2. वही.

द्वितीय अध्याय

धर्म शब्द का अर्थ बड़ा ही व्यापक है। कभी इसका अर्थ स्वभाव होता है तो कभी वह जो धारण किया जाय। आध्यात्मिक उन्नति के लिए जो काम किया जाये वह भी धर्म के अन्तर्गत आता है। यहाँ धर्म शब्द अधर्म का उल्था है।

धर्म शब्द से संसार में महान पुरुषों द्वारा प्रतिपादित उपदेश भी अभिप्रेत है। जैसे 'क्राइस्ट' द्वारा उपदिष्ट धर्म क्रिश्चियन धर्म कहलाता है। बुद्ध द्वारा प्रतिपादित धर्म बुद्ध धर्म, भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित जैन धर्म और कुरान का उपदेश इस्लाम धर्म के अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार इस अर्थ में संसार में अनेक धर्म हैं। (धर्म शब्द की विशद व्याख्या यहाँ अनिवार्य है।) जहाँ तक पालि साहित्य में धर्म शब्द का सम्बन्ध है यहाँ भी इसके कई अर्थ द्रष्टव्य हैं। महावग्ग[1] को पढ़ने पर स्पष्ट हो जाता है कि धर्म का अर्थ प्रतीत्यसमुत्पाद है। जब भगवान बुद्ध ने उरुवेला में नेरञ्जरा नदी के तीर पर स्थित बोधि वृक्ष के नीचे ज्ञान की प्राप्ति की तो उन्होंने रात्रि के प्रथम याम में प्रतीत्यसमुत्पाद का अनुलोम और प्रतिलोम नय से मनन किया 'अविद्या के कारण संस्कार होता है, संस्कार के कारण विज्ञान होता है, विज्ञान के कारण नामरूप, नामरूप के कारण छः आयतन, छः आयतनों के कारण स्पर्श, स्पर्श के कारण वेदना, वेदना के कारण तृष्णा, तृष्णा के कारण उपादान, उपादान के कारण भव, भव के कारण जाति, जाति के कारण जरा, मरण, शोक, रोना-पीटना, दु:ख, चित्त विकार और चित्तखेद उत्पन्न होते हैं। यह प्रतीत्यमुत्पाद का अनुलोम नय है, जिसमें कारण से कार्य की उत्पत्ति दर्शायी गई है। प्रतिलोम नय ठीक इसके विपरीत है जहाँ यह दर्शाया गया है कि जहाँ कारण नहीं रहता वहाँ कार्य भी नहीं होता अर्थात् "अविद्या के बिल्कुल निरोध से, अविद्या के नाश होने से संस्कार का नाश होता है; संस्कार नाश से विज्ञान का नाश होता है, विज्ञान के नाश से नामरूप का नाश होता हैं; नामरूप के नाश से छः आयतनों का नाश होता है; छः आयतनों के नाश से स्पर्श का नाश होता है; स्पर्श के नाश से वेदना का, वेदना के नाश से तृष्णा का और तृष्णा के नाश से उपादान का, उपादान के नाश से भव का, भव के नाश से जाति का तथा जाति के नाश से जरा, मरण, शोक, रोना-पीटना, दु:ख, चित्त विकार और चित्तखेद का नाश होता है। इसे भी भगवान बुद्ध ने धर्म कहा है। अपने उदान में उन्होंने कहा है कि,

1. महावग्ग, विपश्यना विशोधन विन्यास संस्करण, 1

जब धर्म होते जग प्रकट सोत्साह ध्यानी विप्र को
तब शान्त हो कांक्षा सभी देखें सहेतू धर्म को।[1]

भगवान बुद्ध ने प्रतीत्यसमुत्पाद को ही धर्म कहा है। दीघ निकाय के महानिदान सुत्त[2] में उन्होंने धर्म और प्रतीत्य समुत्पाद को एक ही माना है।

यो पटिच्चसमुप्पादं जानाति सो धम्मं जानाति।

इसका विशद विवेचन करने पर हम कह सकते है कि चार आर्य सत्यों में से दुःख समुदय और दुःख निरोध को भगवान ने धर्म कहा है। इस धर्म को भगवान बुद्ध ने बड़ा ही गंभीर एवं दुर्ज्ञेय कहा है। उनके ही शब्दों में "मैंने गंभीर दुर्दर्शन, दुर्ज्ञेय, शान्त, उत्तम, तर्क से अप्राप्य, निपुण पण्डितों द्वारा जानने योग्य उस धर्म को पा लिया[3]"। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि यह जो कार्य कारण रूपी प्रतीत्यसमुत्पाद है वह दुर्दर्शनीय है और यह भी दुर्दर्शनीय है जो कि यह सभी संस्कारों का शमन, सभी मतों का परित्याग, तृष्णा का क्षय, विराग, निरोध और निर्वाण है। उन्होंने यह देखा कि जनता का मन तृष्णा में रमण करने वाला है, कामरत है, काम में प्रसन्न है। वे भला इस गंभीर धर्म को कैसे समझेंगे, इसलिए भगवान बुद्ध का यह उद्गार निकला था,"

यह धर्म पाया कष्ट से इसका न युक्त प्रकाशना
नहि रागद्वेष प्रलिप्त को है सुकर इसका जानना।
गंभीर उल्टी धार युत दुर्दश सूक्ष्म प्रवीण का
तम पुंज छादित राग रत द्वारा न संभव देखना।[4]

भगवान ने दुःख निरोध को धर्म कहा है अर्थात् निर्वाण भी धर्म के अन्तर्गत आता है। जब सहम्पति ब्रह्मा ने भगवान से धर्म प्रचार के लिए अनुरोध किया वह यही धर्म था जिसे भगवान ने साक्षात्कार किया था तथा जिसकी अवाप्ति उन्होंने की थी। धर्म का स्वरूप बताते हुए भगवान बुद्ध ने कहा है कि यह धर्म आंख देने वाला, ज्ञान कराने वाला, शांति के लिए, अभिज्ञा के लिए, परिपूर्ण ज्ञान के लिए और निर्वाण के लिए है।[5] और यही मध्यम मार्ग है जिसका उपदेश उन्होंने वाराणसी के इसिपतन मृगदाव में पंचवर्गीय भिक्षुओं के समक्ष किया था।

इन प्रसंगों से यह स्पष्ट है कि धर्म का अर्थ प्रतीत्यसमुप्पाद से है।

---

1. विनय पिटक, (राहुल कृत अनुवाद) ताईवान संस्करण, पृ०-76
2. दी.नि. महानिदान सुत्त II. 44-57
3. विनय पिटक, (राहुल कृत अनुवाद)-77
4. विनय-पिटक (राहुल कृत अनुवाद) ताईवान संस्करण-78
5. वही,-7

दीघ निकाय के ब्रह्मजाल सुत्त के अध्ययन से धर्म के अर्थ पर प्रभूत प्रकाश पड़ता है। वहाँ भगवान बुद्ध ने 62 प्रकार की मिथ्यादृष्टियों की चर्चा की है जिनमें 18 अतीत से संबंध रखने वाली थीं तथा 44 भविष्य से। शाश्वतवाद, एकत्य शाश्वतवाद, उच्छेदवाद आदि सभी दृष्टियाँ हैं। भगवान बुद्ध ने स्पष्ट कहा है कि मैं उन सभी दृष्टियों को जानता हूँ तथा इनसे ऊपर की बातें भी जानता हूँ। ''इतो पि जानामि उत्तरितरं पि च जानामि'' और जो उत्तर धर्म भगवान बुद्ध जानते हैं वह बड़ा ही गंभीर एवं दुर्दर्श है एवं अतर्कावचर एवं प्रणीत है। उनके समय में जितने दार्शनिक सिद्धान्त प्रतिपादित हुए थे उन सबों में कहीं न कहीं अपूर्णता थी। चाहे वह शाश्वतवाद हो चाहे उच्छेदवाद-ये सभी दृष्टियाँ सीमित थीं। भगवान बुद्ध ने इन सीमाओं को पार कर वैसे धर्म को जाना था जो शाश्वत है, सार्वजनीन है। इसलिए इसे ही असली अर्थ मे धर्म कहा जाना चाहिए।

साधारणतया धर्म का सम्बन्ध ईश्वर से जाना जाता है। ईश्वर को मानना, ईश्वर में विश्वास करना धर्म है और फिर ईश्वर को ज्ञान मार्ग से जानना या भक्ति मार्ग से प्राप्त करना भी धर्म है। भगवान बुद्ध ने किसी ऐसे ईश्वर को नहीं माना लेकिन उन्होंने संसार में एक नियम देखा जिस नियम के अधीन सभी प्राणी बिना अपवाद के हैं। इसलिए ऐसे ही शाश्वत एवं सार्वजनीन नियम को उन्होंने धर्म कहा। उपनिषद्कारों ने ऐसे ही शाश्वत नियम को ऋत कहा था। बुद्धघोष ने धम्मसङ्गिणी की अट्ठकथा अट्ठसालिनी में धर्म शब्द की व्याख्या की है। उनके अनुसार धर्म शब्द का अर्थ उपदेश, हेतु, गुण, निःसत्वता तथा निर्जीविता आदि है। उन्होंने इन सारे अर्थों को उद्धरण देकर समझाया है। जिसे अङ्गुत्तर निकाय में कहा गया है कि:-धम्मं परियापुणाति, सुत्तं गेय्यं[1]। यहाँ धर्म शब्द का अर्थ परियत्ति है। विभङ्ग में "हेतुम्हि ञाण धम्मपटिसम्भिधा[2] कहा गया है। यहाँ धर्म शब्द का अर्थ हेतु अथवा कारण है। धर्म शब्द का अर्थ गुण भी होता है:-

जैसे :- **न हि धम्मो अधम्मो च उभो सम विपाकिनो**
अधम्मो निरयं नेति धम्मो पापेति सुग्गतिं।[3]

यहाँ धर्म शब्द का अर्थ गुण है। ''तस्मिं खो पन समये धम्मा होन्ति'' यहाँ धर्म का अर्थ निःसत्वता, निर्जीविता है। धम्मसङ्गणि में यह दिखाने का प्रयास किया गया

---

1. अ. नि., 1.118
2. विभङ्ग 331
3. धम्मसङ्गणि -21

है कि जिस समय कोई चित्त उत्पन्न होता है उस समय अनेक धर्म उत्पन्न होते हैं। यहाँ धर्म से तात्पर्य चैतसिकों आदि से है:-

यस्मिं समये कामावचरं कुसलं चित्तं उप्पन्नं होति तस्मिं समये फस्सो होति, वेदना होति, सञ्ञा होति, चेतना होति, एकग्गता होति जीवितिन्द्रियं होति मनसिकारो होति आदि।

यहाँ 'फस्सो' आदि सभी धर्म हैं। फिर वितर्क विचार भी धर्म ही हैं। 'कुसल' एवं 'अकुसल' चित्त के हेतु भी धर्म ही हैं जैसे अलोभ, अदोष अमोह तथा लोभ, दोष और मोह। अष्टांगिक मार्ग के आठों अंग भी धर्म ही हैं जैसे सम्यक दृष्टि आदि।

नेत्तिप्पकरण में भी धर्मों की चर्चा हार और नय के माध्यम से की गई है। सोलह हारों, पाँच नयों तथा अट्ठारह मूलपदों का विवेचन करना ही नेतिप्पकरण का मूल विषय है। देसनाहार, विचय हार, विभत्ति हार, युत्तिहार, पट्ठान हार, लक्खण हार, चतुब्यूह हार, आवत्त हार, परिवत्तन हार, वेवचन हार, पञ्ञत्ति हार, ओतरण हार, सोधन हार, अधिट्ठान हार, परिक्खा हार एवं समारोपन हार[1] ये सोलह हार हैं और पाँच नय हैं नन्दिया वत्त, तीपुक्खल, सीहविक्कीलित, दिसालोचन तथा अंकुस। जिन अट्ठारह मूल-पदों का यहाँ विवेचन किया गया है वे हैं तण्हा, अविज्जा, लोभ, दोस, मोह, सुभसञ्ञा, निच्चसञ्ञा, अत्तसञा, सुक्खसञ्ञा, समथ, विपस्सना, अलोभ, अदोस, अमोह, असुभसञ्ञा अनिच्च सञ्ञा, अनत्तसञ्ञा तथा दुक्खसञ्ञा।

भगवान बुद्ध विभज्जवादी थे। उनका काम मानव नामक प्रज्ञप्ति की पुंखानुपुंखी व्याख्या करना था। उन्होंने यह दर्शाया कि मानव नामक प्रज्ञप्ति में नाम और रूप पाये जाते हैं। इन्हीं दोनों के विचित्र संयोग से यह प्रज्ञप्ति बनी है। जिस प्रकार चक्र, धुरा आदि के संयोग से रथ की प्रज्ञप्ति होती है उसी प्रकार मानव की भी प्रज्ञप्ति नाम और रूप के संयोग से होती है। वजिरा भिक्खुनी ने इसे इस तरह से समझाया है:-

यथा हि अंगसम्भारा, होति सद्दो रथो इति।
एवं खन्धेसु सन्तेसु, होति "सत्तो" ति सम्मुति।।[2]

पुनः भगवान बुद्ध ने नाम और रूप की व्याख्या की है। नाम को ही चित्त कहते हैं:- चिन्तेती ति चित्तं।[3] अर्थात् जो चिन्तन करता है वही चित्त है। मानव की प्रज्ञप्ति में रूप है जो सोच नहीं सकता और चित्त है जो सोच सकता है। इस तरह अञ्ञमञ्ञ

1. पालि साहित्य का इतिहास-559-560.
2. मिलिन्द प्रश्न -24 सं.नि. 1.160
3. अभिधम्मत्थसङ्गहो -13

प्रत्यय के कारण ये दोनों एक साथ मिलकर मानव की प्रज्ञप्ति सृजित करते हैं। चित्त की व्याख्या तीन शीर्षकों में की गई है। कुशल, अकुशल और अव्याकत। यहीं पर भगवान बुद्ध ने बड़ी ही निपुणता से मनोविज्ञान और नीतिशास्त्र का समन्वय किया है। मनोविज्ञान हमारे मन का अध्ययन करता है और नीतिशास्त्र यह बताता है कि क्या अच्छा है, क्या बुरा है, क्या कुशल है और क्या अकुशल है और क्या है जो इन दोंनो से परे है अथवा भिन्न है।

मानव मन की व्याख्या में भगवान बुद्ध ने उन हेतुओं को गिनाया है जिनके कारण चित्तों की उत्पत्ति होती है। लोभ, द्वेष और मोह नामक हेतु अकुशल चित्त को जन्म देते हैं तथा अलोभ, अद्वेष और अमोह कुशल चित्त को। इस तरह से बुद्ध के अनुसार सभी धर्म ही हुए। पुनः जब चित्त की उत्पत्ति होती है तब बहुत सारे चैतसिक उत्पन्न होते हैं। वे भी धर्म के रूप में परिगणित किये जाते हैं।

बुद्ध ने बताया है कि ज्ञान प्राप्ति के लिए चित्त पर नियंत्रण अत्यन्त आवश्यक और चित्त पर नियंत्रण समाधि के द्वारा ही हो सकता है और समाधि तभी प्राप्त की जा सकती है जब मनुष्य लोभ, द्वेष तथा मोह से विरत रहे। अकुशल चित्त वालों की समाधि भी होती है। लेकिन वह उस बक या छिपकिली की तरह है जिसमें हिंसात्मक प्रवृत्ति समायी हुई है। वस्तुतः समाधि तो कुशल चित्त की एकाग्रता है:-

कुसलचित्तस्स एकग्गता समाधि।

बुद्धघोष ने विशुद्धिमार्ग में इस बात को अच्छी तरह समझाया है। हमारा मन लोभ, द्वेष और मोह के कारण अशुद्ध हो जाता है। उस अशुद्ध मन को शुद्ध करने के लिए भगवान बुद्ध ने जो योग प्रतिपादित किया है उसका पालन कर मनुष्य सर्वमल-विरहित ज्ञान को प्राप्त कर दुःख से छुटकारा पा सकता है। जब तक हम अपने को शुद्ध नहीं कर सकते तब तक हम दुःख से छुटकारा नहीं पा सकते और यही कारण है कि मानव दुःखी रहता है। दुःख की जड़ तृष्णा है और तृष्णा को हटाने से ही निर्वाण की प्राप्ति होती है। इसके लिए भगवान बुद्ध ने जो मार्ग बताया है वह बौद्ध योग है।

दुःख से छुटकारा पाने के लिए योगावचर ध्यान करता है। और यह ध्यान चित्त की भूमियों के अनुसार होता है:-कामवाचर, रूपावचर, अरूपावचर एवं लोकोत्तर। कामावचर से रूपावचर जाने में अथक परिश्रम करना पड़ता है। रूपावचर ध्यान के पाँच अंग है:-वितर्क, विचार प्रीति, सुख और एकाग्रता। लेकिन अच्छी तरह से ध्यान लगे इसके लिए यह आवश्यक है कि पाँच नीवरणों को दूर किया जाये।

कामच्छन्द, व्यापाद, थीनमिद्ध, उद्धच्चकुकुच्च और विचिकिच्छा ये पाँच नीवरण हैं। इन नीवरणों की चर्चा **सामञ्ञफल सुत्त** में देखी जाती है। इस सुत्त के अतिरिक्त और भी कई सुत्तों मे इनकी चर्चा है।

अरूपावचर ध्यान के चार भेदों की चर्चा भी **सामञ्ञफल सुत्त** तथा और कई सुत्तों में पाई जाती है। आकासानञ्चायतन, विञ्ञाणञ्चायतन, आकिञ्चञ्ञातन और नेवसञ्ञानासञ्ञायतन की चर्चा **सामञ्ञफल सुत्त**[1] तथा **पोट्ठपाद सुत्त**[2] में भी मिलती है।

भगवान ने चार सत्यों का साक्षात्कार किया था। भगवान बुद्ध द्वारा साक्षात्कृत होने के कारण ही इन्हें आर्य सत्य कहा जाता है। इनमें प्रथम आर्य सत्य दु:ख है। दु:ख की परिभाषा विभिन्न स्थलों पर सुत्त-पिटक में की गई है। जैसे:-

जाति पि दुक्खा, जरा पि दुक्खा,
मरणं पि दुक्खं, अप्पियेहि सम्पयोगो,
दुक्खो, पियेहि विप्पयोगो दुक्खो
सङ्खित्तेन पञ्चुपादान खन्धा दुक्खा।

इस तरह दु:ख की चर्चा सुत्त पिटक में कई स्थलों पर पाई जाती है। वैसे ही दु:ख समुदय, जो द्वितीय आर्यसत्य है, की चर्चा कई सुत्तों में है। दीघनिकाय के प्रथम सुत्त में ही तीन प्रकार की तृष्णाओं की चर्चा है जो दु:ख के मूल कारण हैं:- काम तण्हा, भव तण्हा और विभव तण्हा। पुन: दु:ख निरोध से क्या तात्पर्य है यह भी त्रिपिटक के कई सुत्तों में स्पष्ट किया गया है। चतुर्थ आर्य सत्य अथवा दुक्खनिरोधगामिनी पटिपदा की व्याख्या अष्टांगिक मार्ग के रूप में की गई है। सम्यक दृष्टि, सम्यक संकल्प, सम्यक वचन, सम्यक कर्मान्त, सम्यक आजीव, सम्यक व्यायाम, सम्यक स्मृति और सम्यक समाधि ये उसके अंग हैं।

भगवान बुद्ध ने बुद्ध चक्षु से इस बात को जाना कि मानव अपने ही कर्मों से दूषित होता है तथा अपने ही कर्मों से वह अपने को विशुद्ध भी कर सकता है। यदि मनुष्य के अंदर निरन्तर चलने वाला डायनेमो तृष्णा के पेट्रोल से चलता रहता है तो प्रक्रिया को उलट देने से इस डायनेमो का चलना बन्द भी हो सकता है जब हम इसमें तृष्णा रूपी पेट्रोल न डालें। यदि हम इस बात को समझ लें कि जिन वस्तुओं के प्रति हम आकर्षित होते हैं वे वस्तुएँ नित्य और शाश्वत नहीं हैं, उनका सौन्दर्य अक्षर नहीं

1. दी. नि., भाग-1 -41
2. वही, भाग-1 -151

हैं बल्कि वे क्षणभंगुर है। सतत परिवर्तनशील हैं, तो हमारा कामराग समाप्त हो सकता है। अज्ञान के कारण, लोभ के कारण एवं द्वेष के कारण हमारे मन में परत-दर-परत गन्दगी आती रहती है। उन गन्दगियों को हम साधना के द्वारा ही दूर कर सकते हैं। गन्दगियों का दूर होना ही निर्वाण की प्राप्ति है क्योंकि तृष्णा के कारण ही हम जीवन-मरण के चक्र में बार-बार आते रहते हैं। यदि हम तृष्णा को उच्छेद करने में सफल हो जायं तो हम अपने को शुद्ध कर सकते हैं तथा वीततृष्ण होकर, वीतराग होकर निर्वाण का अधिगम कर सकते हैं। अभिधम्म इन्हीं सारी जटिलताओं में प्रवेश कराता है।

भगवान बुद्ध ने अपने उपदेशों में इन सारी बातों को बताया है। मनुष्य के कौन-कौन से शत्रु हैं, इन शत्रुओं पर कैसे विजय प्राप्त की जा सकती है तथा कौन-कौन से बोधिपक्षीय धर्म हैं, कौन से ऐसे धर्म हैं जिनका सेवन करना चाहिए तथा कौन से धर्म ऐसे हैं जिनका प्रहाण आवश्यक है, कौन से ऐसे धर्म हैं जिनकी सतत भावना करनी चाहिए- इन सारी बातों को भगवान बुद्ध ने अपने शिष्यों से कहा है। साथ ही उन्होंने उन धर्मों के बारे में बताया जो परिज्ञेय हैं, जो हानभागिय हैं विशेषभागिय हैं, दुष्प्रतिवेद्य हैं, अभिज्ञेय हैं तथा साक्षात्कार करने योग्य हैं। इस तरह के उपदेश सुत्त पिटक में भरे पड़े है। संयुत्त निकाय के कोसल संयुत्त[1] में लोभ द्वेष और मोह को मनुष्य का शत्रु बताया गया है। और जैसा हम जानते है कि लोभ हमारा बहुत बड़ा दुश्मन है। लोभ के कारण ही हम आकर्षित होते हैं और हमारी तृष्णा सुरसा की तरह बढ़ती रहती है। ऐसा अज्ञान के कारण होता है चूंकि हम सांसारिक वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को नहीं जान सकते। सच्चे ज्ञान से वैराग्य की उत्पत्ति होती है। और वीतराग होकर मनुष्य दुःख के कारण से छुटकारा पा सकता है।

भगवान बुद्ध ने यह भी कहा कि यदि हम प्रज्ञा की प्राप्ति करना चाहते हैं तो हमें समाधि का अभ्यास करना होगा। समाधि चित्त की एकाग्रता है और यह एकाग्रता शील का पालन किये बिना असंभव है। शील का पालन उपयुक्त समाधि के लिए आवश्यक साधन है। शील अर्थात् मानसिक, वाचसिक और शारीरिक कर्मों की शुद्धता। शील का कितना महत्व है वह इसी से स्पष्ट हो जाता है। भगवान बुद्ध ने दीघ निकाय के प्रथम सुत्त में ही इसकी चर्चा सविस्तार की है। मानव मनोविज्ञान के अनुसार चित्त बड़ा ही चंचल है। **धम्मपद** में कहा गया है किः-

फन्दनं चपलं चित्तं, दुरक्खं दुन्निवारयं।
उजुं करोति मेधावी उसुकारो व तेजनं।।[2]

1. सं. नि. कोसल संयुत्त, भाग-1 -67
2. धम्मपद, (खु. नि.-1), -20

लेकिन इसको नियंत्रण में लाया जा सकता है। इसे नियंत्रण में लाना ही योगावचर का काम है। **उजुं करोति मेधावी**। साधना के तीन पाद शील, समाधि और प्रज्ञा हैं। इन्हीं का वर्णन बौद्ध योग करता है। लेकिन बौद्ध योग की सफलता उन सारी बातों पर निर्भर करती है जो मनोविज्ञान और नीति से सम्बन्ध रखती हैं। ये सभी बातें सुत्तपिटक में छिटपुट रूप से वर्णित हैं। बाद में बौद्ध स्थविरों एवं पण्डितों ने इन्हें एकत्र कर एक स्वरूप दे डाला जो अभिधम्म के नाम से अभिहित किया गया। अभिधम्म का अर्थ अतिरेक धर्म से है। बुद्धघोष ने अट्ठसालिनी की निदान कथा[1] में यह कहा है कि अभिधम्म अतिरेक धर्म के अर्थ में तथा विशेष धर्म के अर्थ में है। जैसे बहुत बड़े-बड़े एवं विशेष वर्ण के होने के कारण छत्र को अतिछत्र कहा जाता है; बहुत बड़े आकार के तथा नाना वर्ण से सम्पन्न होने के कारण ध्वज को अतिध्वज कहा जाता है, जो राजकुमार जाति भोग, यश, ऐश्वर्य, सम्पत्ति आदि के दृष्टिकोण से बढ़ा हुआ है, विशेष है उसे अतिराजकुमार कहा जाता है, जो देवता आयु, वर्ण, ऐश्वर्य, सम्पत्ति आदि में बढ़ा हुआ है उसे अतिदेव कहा जाता है तथा इन्हीं गुणों से सम्पन्न ब्रह्मा को अतिब्रह्मा कहा जाता है, उसी तरह अतिरेक धर्म एवं विशेष धर्म होने के कारण इसे अभिधम्म कहा गया है।

तस्मा यथा समुस्सितेसु बहूसु छत्तेसु चेव धजेसु च यं अतिरेकप्पमाणं विसेसवण्णसण्ठानञ्च छत्तं, तं 'अतिच्छत्तन्ति' वुच्चति यो अतिरेकप्पमाणो नानाविराग वण्णविसेससम्पन्नो च धजो सो 'अतिधजो' ति वुच्चति, यथा च एकतो सन्निपतितेसु बहूसु राजकुमारेसु चेव देवेसु च यो जाति-भोग-यस इस्सरियादिसम्पत्तीहि अतिरेकतरो चेव विसेसवन्ततरो च राजकुमारो सो 'अतिराजकुमारो' ति वुच्चति, यो आयुवण्ण-इस्सरिययससम्पत्तिआदीहि अतिरेकतरो चेव विसेसवन्ततरो च देवो सो 'अतिदेवो' ति वुच्चति; तथारूपो ब्रह्मा पि 'अतिब्रह्मा' ति वुच्चति, एवमेव अयम्पि धम्मो धम्मातिरेकधम्मविसेसट्ठेन 'अभिधम्मो' ति वुच्चति।[2]

इन धर्मों की पुंखानुपुंखी व्याख्या इस उद्देश्य से की गई है कि मनुष्य इन्हें जाने एवं जानकर उन धर्मों का पालन करे और अपना आध्यात्मिक विकास करे। बुद्ध के सारे उपदेश इसी महान उद्देश्य को केन्द्र में रखकर दिये गये हैं। संसार में दुःख है, इसका कारण है, इसका निरोध हो सकता है तथा निरोध करने का एक मार्ग है। हमारा मन किन कारणों से दूषित होता है तथा कैसे वह शुद्ध हो सकता है यही अभिधम्म है।

---

1. अट्ठसालिनी (निदानकथा), -2
2. वही, -3

तृतीय अध्याय

इस अध्याय में हम दीघ निकाय के सुत्तों में अभिधम्म के बीज कहाँ-कहाँ पाये जाते हैं इसका विश्लेषणात्मक अध्ययन करेंगे। इस निकाय में कुल मिलाकर 34 सुत्त हैं। इन चौंतीस सुत्तों में ग्यारह सुत्तों को छोड़कर शेष तेईस में अभिधम्म की बातें कम या अधिक मात्रा में विद्यमान हैं। ब्रह्मजाल सुत्त में तीन प्रकार के शीलों की चर्चा है:-

चूलशील, मध्यम शील और महाशील। चूलशील के अन्तर्गत वैसे शारीरिक वाचिक और मानसिक कर्मों की परिगणना की गई हैं जिनसे यह शीघ्र पता चल सकता है कि ऐसे कर्म करने वाले व्यक्ति शीलवान हैं या दु:शील।

जो व्यक्ति या भिक्षु जीवहिंसा करता है, चोरी करता है, व्यभिचार करता है, झूठ बोलता है, चुगली करता है, मिथ्याप्रलाप करता है, कठोर वचन बोलता है और नशीले द्रव्य का सेवन करता है, वह कैसे शीलवान कहा जा सकता है? इसके विपरीत यदि कोई इन कर्मों से विरत रहता है तो उसे दु:शील कैसे कहा जायेगा?

शील बुद्ध के अनुसार समाधि की आधार शिला है।

संयुत्त निकाय के निम्नलिखित '**सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो, चित्तं पञ्ञञ्च भावयं। आतापी निपको भिक्खु सो इमं विजटये जटन्ति**'[1] गाथा के आधार पर यह नि:संदेह कहा जा सकता है कि शील समाधि की आधारशिला है। जब तक मनुष्य के कायिक वाचिक कर्मों की तथा मन की शुद्धि नहीं होती वह न तो समाधिस्थ हो सकता है और न प्रज्ञा की प्राप्ति कर सकता है। शील समाधि के लिए ही नहीं वरन् प्रज्ञा की प्राप्ति के लिए परम आवश्यक है।

मध्यम शील के अन्तर्गत वैसे कर्मों को रखा गया है जो लोभ से उत्पन्न होते हैं। लोभ के कारण ही मनुष्य अन्न, पान, वस्त्र, वाहन, शय्या इत्र तथा इस प्रकार की अन्य वस्तुओं को इकट्ठा करने में लगा रहता है। इसी लोभ के कारण वह नृत्य गीत वाद्य में रुचि लेता है, कई प्रकार के खेल देखता है:- जैसे हस्तियुद्ध, अश्वयुद्ध वृषभयुद्ध, भेड़ों, बकरों तथा मुर्गियों के युद्ध देखने में मशगूल रहता है, जुआ आदि

---

1. सं० नि० 1.14, 165

खेलने में समय गँवाता है, बड़े-बड़े पलंगों पर मुलायम तोशक बिछाकर और सुन्दर-सुन्दर तकिया रखकर आराम करता है। ऐसा व्यक्ति भला किस प्रकार ब्रहाचर्य के आदर्श का पालन कर सकता है? ब्रहाचर्य जीवन जीने के लिए शरीर की स्थिति स्वस्थ रूप में रखना ही ध्येय होना चाहिए न कि भोजन के प्रति **'लिप्सा न दवाय न मदाय भोजन'** होना चाहिए। तरह-तरह के युद्ध खेलने में और जुआ आदि खेलने में जो लोग लगे रहते हैं उनके पास साधना करने का समय कहाँ से आएगा? उसी तरह जो लोग अपने शरीर में उबटन लगवाते हैं, अपने शरीर को मलवाते, दबवाते है, दूसरे के हाथ नहाते हैं और शरीर को दर्पण, अंजन, माला, लेप, मुखचूर्ण, आभूषण, छाता-टोपी मणि आदि से सजाने संवारने में लगे रहते हैं उनको भी धर्म की बात करने और सुनने में तथा धर्म का अभ्यास करने का समय कहाँ से मिलेगा? जो लोग तरह-तरह की कथाओं को सुनने में समय गँवाते हैं वे भी शील का पालन नहीं करते।

महाशील के अन्तर्गत वैसी हीन विद्याओं की चर्चा है जिनसे कोई व्यक्ति या भिक्षु आजीविका उपार्जन करता है। अंग देखकर फल बताना, स्वप्न का फल बताना, कई प्रकार के होम करना, मणि का लक्षण बताना, दंड, असि, बाण, धनुष, हाथी, घोड़ा, बैल, भैंस, गाय आदि का लक्षण बताकर आजीविका उपार्जन करना दूषित माना गया है। सूर्य ग्रहण, चन्द्रग्रहण का फल बताकर भी तथा किस मुहूर्त में निकलने से राजा की हार या जीत होगी, बताकर जीविका उपार्जन करने का निषेध किया गया है। इस तरह के कार्य लोभ औह मोह से उत्पन्न होते हैं। लोभ के कारण अन्न तथा वस्त्रों की सन्निधि की जाती है। और मोह के कारण इन मिथ्या विद्याओं पर विश्वास। अभिधम्म के अनुसार लोभ और मोह अकुशल चित्त के मूल हैं।

ऊपर-ऊपर देखने से पता चलता है कि इस तरह की विद्या जानकर फल बताने मे हर्ज ही क्या है? भिक्षु चोरी करके तो धनार्जन नहीं करता लेकिन बुद्ध की दृष्टि में ये सारी विद्यायें मिथ्या तथा हीन हैं। ब्रहचर्य जीवन बिता कर जिस निर्वाण की प्राप्ति को परम लक्ष्य बताया गया है उसके लिए ये विद्याएँ कभी भी अच्छी नहीं कही जा सकतीं। इस तरह हम देखते हैं कि **ब्रह्मजाल सुत्त** में अष्टांगिक मार्ग के तीन अंगों जैसे सम्यक वाचा, सम्यक-कर्मान्त और सम्यक आजीविका पर विस्तार से कहा गया है।

इसी सुत्त में सम्यक दृष्टि की भी बात आती है। सम्यक दृष्टि न तो शाश्वतवाद को मानने में है और न उच्छेदवाद को। बुद्ध ने बताया है कि कैसे लोग बासठ प्रकार

की मिथ्यादृष्टियों में पड़कर सच्चाई तक नहीं पहुँच पाते। उन्होंने यह बार-बार कहा है कि मैं इन्हें भी जानता हूँ और इनसे परे की बात भी जानता हूँ पर मेरा किसी भी दृष्टि से चिपकाव या लगाव नहीं है, मैं बिल्कुल वीततृष्ण हूँ।

इस तरह हम देखते है कि **ब्रह्मजाल सुत्त** में शील तथा सम्यक दृष्टि पर विचार किया गया है और साथ ही यह दिखाया गया है कि जब तक मनुष्य तृष्णाविरहित नहीं होता वह भिक्षु का आदर्श जीवन नहीं जी सकता।

सामञ्ञफल सुत्त में सभी शीलों का वर्णन है। साथ ही यहाँ स्मृति, संप्रजन्य, समाधि आश्रव तथा चार आर्यसत्यों का उल्लेख है। स्मृति और संप्रजन्य अभिधम्म में चैतसिक के अन्तर्गत गिने जाते हैं क्योंकि संप्रजन्य एक प्रकार की प्रज्ञा है जो प्रज्ञेन्द्रिय कहा जा सकता है। स्मृति सति को कहते हैं जिसका सम्बन्ध समाधि से है: सम्प्रजन्य का सम्बन्ध प्रज्ञा से है। इस सुत्त में ध्यान देने योग्य बात यह है कि चार ही प्रकार के ध्यानों की यहाँ चर्चा है जबकि अभिधम्म में पाँच प्रकार के ध्यान कहे गये हैं।

किसी भी प्रत्यय का विकास कालक्रम से होता है और बाद में प्रत्यय पहले से अधिक विकसित हो जाता है। सुत्त में सर्वत्र चार प्रकार के रूपावचर ध्यानों की चर्चा है। लेकिन अभिधम्म में पाँच प्रकार के ध्यानों की चर्चा है। इसी तरह सुत्त पिटक में तीन आश्रवों की चर्चा है, कामाश्रव भवाश्रव और अविद्याश्रव। सिर्फ अभिधम्म पिटक में या बाद के पालिसाहित्य में दृष्टि आश्रव का उल्लेख मिलता है। सुत्तों में ध्यानों तथा आश्रवों की संख्या क्रमशः चार और तीन हैं, अभिधम्म में क्रमशः पाँच और चार। अतः स्पष्ट है कि अभिधम्म पिटक का विकास बाद में हुआ। अगर सुत्तपिटक और अभिधम्म पिटक का संगायन पहली संगीति में ही साथ-साथ हुआ होता तो ध्यानों और आश्रवों की संख्या में किसी प्रकार का अन्तर नहीं होता।

रूपावाचर ध्यान के पाँच अंगों में वितर्क और विचार पहले ध्यान से दूसरे ध्यान में जाने पर समाप्त हो जाते हैं। अभिधम्म के अनुसार पहले ध्यान से दूसरे ध्यान में जाने पर केवल वितर्क ही चला जाता है। ध्यान के अवशेष तीन अंग प्रीति सुख और एकाग्रता हैं।

ब्रह्मजाल सुत्त एवं **सामञ्ञफल सुत्त** की तरह ही **अम्बट्ठ सुत्त, सोणदण्ड सुत्त, कस्सपसीहनादसुत्त, पोट्ठपाद सुत्त, सुभसुत** तथा **लोहिच्च सुत्त** में शील, समाधि और प्रज्ञा का वर्णन मिलता है। **अम्बट्ठ सुत्त**[1] में कहा गया है कि जो विद्या

1. दी. नि., 1.85

और आचरण से युक्त है वह देव मनुष्यों में श्रेष्ठ है। '**विज्जाचरण सम्पन्नो सो सेट्ठो देवमानुसे**'ति में विद्या का अर्थ प्रज्ञा है और आचरण से तात्पर्य शील और समाधि से है।

सोणदण्ड सुत्त में शील तथा प्रज्ञा को ही ब्राहणकारक धर्म बताया गया है। माता-पिता की ओर से सुजात होना, मेधावी होना, तीनों वेदों में पारंगत होना; गौरवर्ण का होना ब्राह्मण बनाने वाले धर्म नहीं हैं। सच्चे ब्राह्मण होने के लिए शीलवान और मेधावी होना आवश्यक है। **कूटदन्तसुत्त**[1] में यज्ञों की चर्चा के प्रसंग में शील यज्ञ, समाधि यज्ञ और प्रज्ञा यज्ञ को उत्तम यज्ञ कहा गया है। ये तीनों निर्वाण साक्षात्कार के लिए उपाय हैं। इनकी व्याख्या **महालि सुत्त**[2] में की गई है। **जालिय सुत्त**[3] में भी शील समाधि प्रज्ञा की ही चर्चा है। **महासीहनाद सुत्त**[4] में जिन तीन सम्पत्तियों की चर्चा है वे हैं शील सम्पत्ति, समाधि सम्पत्ति और प्रज्ञा सम्पत्ति।

पोट्ठपाद सुत्त में ऐसा बताया गया है कि जो भिक्षु शील सम्पन्न होता है वह पाँच नीवरणों से मुक्त होकर अपने को देखता है तो उसे प्रमोद उत्पन्न होता है, फिर प्रीति उत्पन्न होती है। प्रीति वाले चित्त की काया अचंचल तथा प्रश्रब्ध होती है।

प्रश्रब्ध काय वाला सुख अनुभव करता है और ऐसे सुखी भिक्षु का चित्त एकाग्र होता है। एकाग्रता प्राप्त करने के लिए प्रश्रब्धि आवश्यक है। समाधि जो कुशल चित्त की एकाग्रता है, के लिए शील परम आवश्यक है। इसी सुत्त में न सिर्फ चार प्रकार के रूपवाचर ध्यानों की चर्चा है बल्कि अरूपावचर ध्यान के चार प्रकारों की भी चर्चा है। ये चार प्रकार हैं-आकासानञ्चायतन, विञ्ञाणञ्चायतन, आकिञ्चञ्ञायतन तथा नेवसञ्ञानासञ्ञायतन। इस तरह हम देखते हैं कि अभिधम्म के सारे तत्व जो समाधि से संबंधित हैं इस सुत्त में वर्णित हैं। **सामञ्ञफलसुत्त** की तरह इसमें भी चार आर्यसत्यों का उल्लेख है। **सुभसुत्त** में धर्म के तीन स्कन्धों का उल्लेख है। शील स्कन्ध, समाधि स्कन्ध और प्रज्ञास्कन्ध।

लोहिच्च सुत्त[5] में भी सच्चे गुरु और झूठे गुरु में अन्तर दिखाते समय यह दर्शाया गया है कि सच्चा गुरु वही है जो शीलसम्पन्न है तथा जो समाधिस्थ हो विहार करता है तथा जिसको छः अभिज्ञाओं की प्राप्ति होती है।

---

1. वही, 130
2. वही, 138
3. वही, 142
4. वही, 154
5. वही, 211

अभिधम्म में परमार्थ की व्याख्या की गई है और ये परमार्थ हैं चित्त, चैतसिक, रूप और निर्वाण। लेकिन अभिधम्म सिर्फ परमार्थ की व्याख्या ही नहीं करता बल्कि निर्वाण की प्राप्ति का मार्ग भी बताता है और उस मार्ग पर जितने मील के पत्थर हैं उनको भी दर्शाता है। कौन सा व्यक्ति इस मार्ग पर चलने में सक्षम है और किसके द्वारा निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है यह भी दिखाता है। अभिधम्म वस्तुतः मात्र फिलोसोफी अर्थात दर्शन नहीं है बल्कि यह मनोनैतिक व्याख्यापरक शास्त्र है जिसमें मनोविज्ञान और नीतिशास्त्र का सुन्दर समन्वय है। कौन-कौन से शत्रु हमें अच्छी राह पर नहीं चलने देते और कौन-कौन से हमारे सहायक हैं इसकी विशद व्याख्या अभिधम्म करता है। लोभ, द्वेष और मोह ये हमारे अकुशल कर्मों के मूल हैं। इनके विपरीत अलोभ, अद्वेष तथा अमोह हमारे कुशल कर्मों के मूल हैं। अकुशल कर्मों से हमारे अन्दर गन्दगी जमती है, हम अशुद्ध होते है। अशुद्ध या अकुशल चित्त को बिना शुद्ध या कुशल बनाये हम निर्वाण की प्राप्ति नहीं कर सकते। राग और द्वेष हमारे शत्रु हैं और इनपर विजय पाकर ही हम दुःख निरोध गामिनी प्रतिपदा पर चल सकते हैं। इसलिए शील की बातें भी अभिधम्म के अन्तर्गत आ जाती हैं। जब हम अभिधम्म मे कुशल चित्त या अकुशल चित्त के बारे में पढ़ते है, सराग चित्त या वीतराग चित्त के बारे में पढ़ते हैं तो स्वाभाविक रूप से हम लोभ और अलोभ के क्षेत्र में आ जाते हैं जिनका सीधा सम्बन्ध शील से है। अभिधम्मत्थसङ्गहो में कहा गया हैः-

अट्ठधा लोभमूलानि, दोसमूलानि च द्विधा।
मोहमूलानि च द्वीहि, द्वादसाकुसला सियुं।।[1]

अर्थात बारह अकुशल चित्तों में से 8 लोभ मूलक 2 द्वेषमूलक और 2 मोह मूलक चित्त होते हैं। फिर कामावचर चित्त में ही कुशल चित्त भी आते हैं जो आठ हैं। इन आठ कुशल कर्मों के आठ विपाक और आठ क्रियाचित्त कुल मिलाकर चौबीस चित्त हुए।

यहाँ हमें चित्त की भूमियों के बारे में जानना आवश्यक है। चित्त की चार भूमियाँ कही गई है। भूमि का अर्थ यहाँ चित्त के धरातल से है या इसका अर्थ यह है कि चित्त किस क्षेत्र में विचरण करता है। कामों के क्षेत्र में विचरण करने वाला चित्त कामावचर कहा जाता है। जब चित्त रूपवान वस्तुओं पर ध्यान करता है तो इसे रूपावचर चित्त कहा जाता है। रूप का अतिक्रमण करके जब चित्त आकाश आदि अरूप वस्तुओं पर ध्यान करता है तो चित्त अरूपावचर कहा जाता है। पुनः जब चित्त कामावचर, रूपावचर और अरूपावचर भूमि का अतिक्रमण करके जहाँ विचरण

---

1. अभिधम्मत्थसङ्गहो

करता है उसे लोकोत्तर भूमि कहते हैं। इन चारों भूमियों में अलग-अलग चित्त होते हैं। जैसा ऊपर कहा गया है कामावचर में कुशल अकुशल तथा इनके विपाक और क्रिया चित्त सभी पाये जाते हैं। शेष तीन भूमियों के चित्त कुशल कहे जाते हैं और इनके विपाक भी कुशल ही कहे जाते हैं।

बौद्ध दर्शन कर्म के फल को मानता है इसलिए कुशल चित्त का कुशल विपाक और अकुशल चित्त का अकुशल विपाक कहा जाता है। चूँकि अर्हत राग, द्वेष से पूर्णतः मुक्त होता है इसलिए उसके कर्म बीज के रूप में काम नहीं करते। अतः उनका विपाक नहीं होता। इसलिए अर्हत के चित्त को क्रिया चित्त कहते है। अर्हत के कर्मों का विपाक इसलिए नहीं होता कि कर्म बीज राग और द्वेष से मुक्त होने के कारण जल जाते हैं या भूने हुए बीज की तरह हो जाते हैं। रूपावचर भूमि में पाँच कुशल, पाँच विपाक और पाँच क्रिया चित्त, अरूपावचर भूमि में चार कुशल, चार विपाक और चार क्रिया चित्त तथा लोकोत्तर भूमि में चार मार्ग चित्त और चार फलचित्त होते हैं।

अभिधम्म इन सभी चित्तों की व्याख्या प्रस्तुत करता है और साथ में यह भी बताता है कि किस चित्त की उत्पत्ति कैसे होती है। चित्त के अध्ययन करने पर हमें आवश्यक रूप से इनके छः मूलों का अध्ययन करना होता है। तीन अकुशल कर्म के मूल और तीन कुशल कर्म के मूल, और आवश्यक रूप से जब हम कुशल और अकुशल का अध्ययन करते हैं तो शील के क्षेत्र में पदार्पण करते हैं। भगवान बुद्ध ने बार-बार शील, समाधि और प्रज्ञा में परस्पर संबंध को दिखलाया है। **सोणदण्ड सुत्त**[1] में शील और प्रज्ञा में सम्बन्ध दर्शाते हुए भगवान ने यह कहा है ''शील प्रक्षालित प्रज्ञा है, प्रज्ञा प्रक्षालित शील है। जहाँ शील है वहाँ प्रज्ञा है जहाँ प्रज्ञा है वहाँ शील। शीलवान को प्रज्ञा होती है, प्रज्ञावान को शील। साथ ही भगवान ने यह भी कहा कि लोक में शील प्रज्ञा का सरदार कहा जाता है। यह कहकर भगवान ने शील के महत्व को उजागर किया है। एक जगह भगवान ने शील और प्रज्ञा में सम्बन्ध दिखलाते हुए यह कहा है कि जैसे एक गंदे पैर को दूसरे पैर से आदमी साफ करता है या एक गंदे हाथ को दूसरे हाथ से साफ करता है उसी तरह का सम्बन्ध शील और प्रज्ञा में है। **महापरिनिब्बान सुत्त** में कम से कम छः स्थलों पर भगवान ने शील, समाधि और प्रज्ञा का सम्बन्ध दिखलाते हुए ऐसा कहा है। **इति सीलं, इति समाधि, इति पञ्ञा। सीलपरिभावितो समाधि महप्फलो होति महानिसंसो। समाधि परिभावितो पञ्ञा महप्फला होति महानिसंसा।**

---

1. दी.नि. 1.108

पञ्ञापरिभावितं चित्तं सम्मदेव आसवेहि विमुच्चति सेय्यथिदं कामासवा, भवासवा अविज्जासवा।[1]

बौद्ध दर्शन कारण-कार्य के सिद्धांत को मानता है अर्थात कोई कार्य होता है तो इसके पीछे कारण अवश्य होता है। हम दुःखी हैं तो इसका कारण भी है और कारण को मिटाकर हम दुःखातीत भी हो सकते हैं। इसी बात को बौद्ध दर्शन में प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धांत द्वारा समझाया गया है। हम दुःखी हैं क्योंकि हममें तृष्णा है, राग है, द्वेष है और हम राग द्वेष के असली स्वभाव को अविद्या के कारण नहीं जानते। इसलिए हम किसी वस्तु की चाह में चिपके रहते हैं। इसी को **महानिदान सुत्त** में समझाया गया है कि कैसे अविद्या के प्रत्यय से संस्कार होता है, संस्कार के प्रत्यय से विज्ञान आदि। इसके विपरीत अविद्या के निरोध से संस्कार का निरोध होता है, संस्कार के निरोध से विज्ञान का आदि।

इस तरह हम देखते हैं कि **महानिदान सुत्त**[2] में प्रतीत्य समुत्पाद का विस्तार से वर्णन किया गया है। ये सारी बातें अभिधम्म में पाई जाती हैं।

दीघ निकाय का **महासतिपट्ठान सुत्त**[3] और मज्झिम निकाय का **सतिपट्ठान सुत्त** दोनों लगभग एक ही हैं। अंतर इतना ही है कि **महासतिपट्ठान सुत्त** में वेदना, राग, द्वेष, मोह, पाँच नीवरण, स्कन्ध, आयतन, बोध्यंग, आर्यसत्य तथा अष्टांगिक मार्ग का वर्णन है। अभिधम्म में भी वेदना की विस्तृत व्याख्या है और इसके पाँच प्रकार कहे गये हैं:- सुख, दुःख, सौमनस्य, दौर्मनस्य और अदुःख-असुख। **महासतिपट्ठान सुत्त** में सौमनस्य दौर्मनस्य तो नहीं पाये जाते किन्तु सुख-दुःख और अदुःख असुख वेदनाओं का वर्णन यहाँ मिलता है। वेदनानुपस्सना के अन्तर्गत इनका वर्णन मिलता है। चित्तानुपस्सना के अन्तर्गत सराग चित्त, विराग चित्त, सद्वेष चित्त, वीतद्वेष चित्त, समोह चित्त और वीतमोह चित्त का वर्णन है। इसी तरह धम्मानुपस्सना के अन्तर्गत पाँच नीवरण, पाँच स्कन्ध, बारह आयतन, सात बोध्यंग, चार आर्यसत्य तथा अष्टांगिक मार्ग का वर्णन पाया जाता है। कामच्छन्द व्यापाद, थीनमिद्ध, उद्धच्च कुकुच्च और विचिकिच्छा ये पाँच नीवरण हैं। रूप, वेदना संज्ञा, संस्कार और विज्ञान ये पाँच स्कन्ध है। चक्षुआयतन, रूपायतन, श्रोतआयतन, शब्दआयतन, घ्राणआयतन,

---

1. महापरिनिब्बान सुत्त, दी. नि. 2.65
2. दी. नि. 2.42-45
3. दी. नि. 2.213-235

गन्धआयतन, जिह्वाआयतन, रसआयतन, कायआयतन, स्प्रष्टव्य आयतन, मनआयतन और धर्मआयतन ये 12 (बारह) आयतन हैं।

महासतिपट्ठान सुत्त में सामिष-निरामिष, सराग-विराग, सद्वेष-वीतद्वेष तथा समोह-वीतमोह चित्तों का वर्णन पाया जाता है तो इससे स्पष्ट है कि यहाँ लोभ द्वेष और मोहमूलक चित्तों का ही वर्णन है। चित्त की उत्पत्ति आखिर होती कैसे है? हम जानते हैं कि चित्तों की उत्पत्ति के छः हेतुएँ हैं। तीन कुशल और तीन अकुशल। सराग और विराग प्रकार के चित्त क्रमशः लोभ और अलोभ से उत्पन्न हैं, उसी तरह सद्वेष और वीतद्वेष चित्त द्वेष और अद्वेष से उत्पन्न हैं, समोह और वीतमोह चित्त मोह और अमोह से उत्पन्न हैं। इनमें लोभ, द्वेष और मोह को अकुशल चैतसिक और अलोभ अद्वेष और अमोह को कुशल चैतसिक, अभिधम्म में कहा गया है। चित्त और चैतसिक एकालम्बन, एकवत्थुक और एक साथ उत्पन्न और एक साथ निरुद्ध होते हैं। किसी भी चित्त और चैतसिक में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। सराग-विराग आदि चित्तों की बात करके **महासतिपट्ठान सुत्त** में चैतसिकों की बात भी कही गई है। फिर पाँच नीवरण गिनाए गये है जो निम्नलिखित हैं:-कामच्छन्द, व्यापाद, थीनमिद्ध, उद्धच्चकुकुच्च और विचिकिच्छा। ध्यान से देखने पर ये सभी चैतसिक हैं। कामच्छन्द वस्तुतः लोभ है, व्यापाद द्वेष तथा उद्धच्चकुकुच्च थीनमिद्ध और विचिकिच्छा ये भी अकुशल चैतसिक के अन्तर्गत परिगणित किए गए हैं।

अभिधम्म में स्कन्ध और आयतन का भी विस्तार से वर्णन है। इस सुत्त में भी पाँच स्कन्धों जैसे रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान का वर्णन है। उसी तरह बोध्यंगों तथा बारह आयतनों का भी वर्णन है। (बोध्यंग) सात हैं:- सति, धम्मविचय, वीरिय, पीति, पस्सद्धि, समाधि और उपेक्खा।

चार आर्यसत्यों का भी वर्णन इस सुत्त में मिलता है। सम्मादिट्ठि, सम्मा सङ्कप्पो सम्मावाचा, सम्मा कम्मन्तो, सम्माआजीवो, सम्मावायामो, सम्मासति और सम्मा समाधि ये आठ निर्वाण की ओर ले जाने वाले मार्ग के अंग हैं। इस तरह **महासतिपट्ठान सुत्त** में अभिधम्म के बीज प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं।

कायानुपस्सना के अन्तर्गत पठवी, आपो, तेजो, वायो इन चारों महाभूतों का वर्णन है। जब हम प्रतिकूल मनसिकार करते हैं तो क्या देखते हैं? यह देखते हैं कि हमारी काया में केश, रोम, नख, दन्त, त्वचा, मांस, स्नायु, अस्थि आदि हैं तथा पित्त, कफ, पीव, लहू, पसीना, आंसू, वसा, लार और मूत्र हैं। स्पष्ट है कि हम इस तरह अपने शरीर मे पठवी और आपो महाभूतों को देखते हैं। अभिधम्म में पृथ्वी का

लक्षण कक्खलता या रुखड़ापन को बताया गया है अर्थात् जिसमें ठोसपना है वह पृथ्वी है। हमारे शरीर में जो नख तथा हड्डी आदि हैं वे पृथ्वी धातु हैं। इसी तरह जो खून-पसीना लार आदि हैं वे आपो घातु हैं। इस शरीर में हम अन्न खाकर पचाते भी हैं और पचाने के लिए जो आग है वह तेजो घातु है। फिर यह शरीर चलता है, कई प्रकार के काम करता है। इन सबों में वायु धातु देखी जा सकती है। इस तरह काया को देखने पर पठवी, आपो, तेजो, और वायो स्पष्ट देखे जा सकते हैं।

चार आर्यसत्यों के अन्दर जब हम दु:खसमुदय का विवेचन करते हैं तो यह स्पष्ट होता है कि हमारे दु:खों की जननी तृष्णा है। और तृष्णा वेदना के कारण उत्पन्न होती है आदि। स्पष्ट है कि दु:ख समुदय के व्याकरण में सारा प्रतीत्यसमुत्पाद का व्याकरण समाहित है। इसी तरह दु:खनिरोधगामिनी प्रतिपदा में अष्टांगिक मार्ग का वर्णन है।

अष्टांगिक मार्ग, शील, समाधि और प्रज्ञा ही तो है। जब इस मार्ग पर चलकर प्रज्ञा की प्राप्ति हो जाती है तो हम अच्छी तरह देख लेते हैं कि आश्रवों का क्षय हो गया। इस व्याख्या से यह नि:सन्देह कहा जा सकता है कि अभिधम्म का आधार **महासतिपट्ठान सुत्त** तथा इस तरह के अन्य सुत्त हैं। दीघनिकाय के सुत्तों में अभिधम्म के बीज छिटपुट रूप में पाये जाते हैं किन्तु **संगीति सुत्त** एवं **दसुत्तर सुत्त** अभिधम्म के दृष्टिकोण से बड़ा ही महत्व रखता है। ये दोनों सुत्त सारिपुत्त द्वारा उपदिष्ट हैं। इन सुत्तों की शैली और सुत्तों से बहुत भिन्न है। यहाँ प्रश्न और उत्तर के माध्यम से धर्मों की चर्चा की गई है। वस्तुत: यह शैली दीघ निकाय में नहीं पाई जाती है ऐसी बात नहीं है। **महासतिपट्ठान सुत्त**[1] में और **महानिदान सुत्त**[2] में इस तरह की शैली अपनाई गई है। लेकिन इन दो सुत्तों में इस प्रकार की शैली आदि से अंत तक है। ऐसा माना जाता है कि दीघ निकाय और मज्झिम निकाय का संकलन क्रमश: दीर्घ आकार के एवं मध्यम आकार के सुत्तों को दृष्टिकोण में रखकर किया गया है। संयुत्त निकाय का संकलन विषय के दृष्टिकोण से किया गया है। लेकिन अंगुत्तर निकाय संख्यात्मक दृष्टिकोण से संकलित कहा जा सकता है। मिसेज रीज डेविड्स ने संगीति सुत्तन्त के रीज डेविड्स द्वारा किये गये अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका में कहा है। Recourse to it must have been on nemonic grounds that would be of a great importance in an unwritten mass of doctrine. इन सुत्तों के संबंध में दो और प्रश्न विचारणीय हैं। एक तो यह कि इन सुत्तों का प्रणयन काल कब है?

1. देखें दी.नि. 2.217:2.42
2. देखें दी.नि. 2.217:2.42

अर्थात क्या ये सुत्त दीघनिकाय के और सुत्तों के समकालिक हैं और दूसरा यह कि सारिपुत्त के द्वारा ही ऐसे सुत्तों का उपदेश क्यों किया गया? इन सुत्तों की जो पृष्ठभूमि दी गई है उनसे स्पष्ट है कि सारिपुत्त भगवान द्वारा उपदिष्ट धर्म को अपने विशुद्ध रूप में रखना चाहते थे और विशुद्ध रूप में रखने की जो उनकी चिन्ता थी उसी के कारण इन सुत्तों का संगायन किया गया। पावा में जब भगवान महावीर की मृत्यु हो गई तो उनके शिष्यों में विवाद और झगड़े उठ खड़े हुए। विवाद और झगड़े से धर्म की हानि होती है। इसे देख-समझ कर ही सारिपुत्त ने इनका संगायन किया था।

बुद्धघोष ने सुमंगल विलासिनी[1] में ऐसा लिखा है कि जब महाकस्सप ने प्रथम संगीति बुलाई तो आनन्द को उन्होंने दीघ निकाय के सुत्त किन परिस्थितियों में कहे गये थे इसे सत्यपित करने को कहा था। वहीं पर यह कहा गया है कि शेष तीन निकायों को क्रमशः सारिपुत्त एवं उनके शिष्यों पर, महाकस्सप एवं उनके शिष्यों पर एवं अनिरुद्ध तथा उनके शिष्यों पर सत्यापित करने के लिए छोड़ा गया था। इसके अनुसार सारिपुत्त को मज्झिम निकाय का संगायन करना चाहिए था अंगुत्तर निकाय का नहीं। सारिपुत्त अंगुत्तर में अपनाई गई शैली के आधार पर ही बराबर उपदेश नहीं किया करते थे। उनके पास ऐसी शक्ति थी कि वे सभी प्रकार की शैलियों में उपदेश कर सकते थे। तभी तो हम उनके द्वारा उपदिष्ट सुत्त मज्झिम और संयुत्त निकाय में पाते हैं। उनके बारे में भगवान बुद्ध ने प्रशंसा भरे शब्द कहे हैं। उनकी विशेषता यह थी कि वे संक्षेप में बातों को कहकर पुनः विस्तार से कहते थे।

जो हो इतना माना ही जा सकता है कि इन दोनों सुत्तों का संकलन दीघनिकाय के और सुत्तों की अपेक्षा बाद में किया गया तथा यह भी कहा जा सकता है कि सुत्तपिटक में यत्र-तत्र बिखरे अभिधम्म के बीज को यहाँ संकलित कर लिया गया है और ऐसा सारिपुत्त ने इस लिये किया होगा कि भगवान भी उसे सुन लें और यदि कोई उसमें त्रुटि पाई जाय तो उसका मार्जन भी कर दें ताकि धर्म शुद्ध रूप में अक्षुण्ण रह सके।

हम जानते हैं कि एक और प्रकार से भगवान बुद्ध के उपदेशों का वर्गीकरण किया गया है। उनके उपदेश नौ अंगों में विभाजित हैं। सुत्त, गेय्य, वेय्याकरण, गाथा, उदान, इतिवुत्तक, जातक, वेदल्ल और अब्भुतधम्म। एक अंग वेय्याकरण है जिसका अर्थ व्याख्या करना या उत्तर देना है। इसी के अन्तर्गत परिप्रश्नात्मक शैली अपनाकर धर्म की व्याख्या की गई है। इन्हीं का आगे चलकर संगायन अभिधम्म पिटक के रूप

---

1. सुमंगलविलासिनी (सीलक्खन्धवग्ग अट्ठकथा 1.13-14)

में हुआ। खुद्दक निकाय का पटिसम्भिधामग्ग भी इस प्रकार का एक ग्रंथ है। महानिद्देस और चूलवेदल्ल और महावेदल्ल सुत्तों में भी अभिधम्म के ही बीज पाये जाते हैं। इस तरह संगीति और दसुत्तर ये दोनों ही सुत्त अभिधम्म के दृष्टिकोण से बड़े ही महत्वूपर्ण हैं।

सर्वप्रथम हम सङ्गीति सुत्त की व्याख्या करेंगे ताकि अभिधम्म के साथ इसका क्या संबंध है वह स्पष्ट हो जाय। इसमें दस संग्रहों में धर्मों की चर्चा की गई है। सर्वप्रथम '**कतमो एको धम्मो**' के उत्तर में कहा गया है कि '**सब्बे सत्ता आहारट्ठितिका**' '**सब्बे सत्ता सङ्खारट्ठितिका**' कहा गया है। अर्थात कौन सा धर्म है जो सार्वजनीन है। सर्वव्याप्त है। इसके उत्तर में जो बात कही गई है उससे स्पष्ट है कि बिना कारण के कोई कार्य नहीं होता। कारण-कार्य के सिद्धान्त को प्रतीत्यसमुत्पाद व्याख्यायित करता है। इस तरह एक धर्म कौन है शीर्षक के अन्तर्गत प्रतीत्यसमुत्पाद की बात कही गई है जो बौद्ध दर्शन की नींव है।

द्वितीय संग्रह में वैसे दो-दो धर्मों को गिनाया गया है जो भगवान बुद्ध द्वारा सुआख्यात हैं। इन धर्मों के जानने से मानव जीवन शुद्ध होगा, पवित्र होगा और हम दुःख के जाल से भी मुक्त हो सकेंगे। यहाँ नाम और रूप की चर्चा की गई है। नाम और रूप दो धर्म हैं। बुद्ध के विभज्जवादी दर्शन के अनुसार मानव एक प्रज्ञप्ति है। इसमें किसी शाश्वत आत्मा का निवास नहीं है बल्कि यह नाम और रूप का संघात है। नाम ही के अन्तर्गत वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान आते हैं। यदि हम इस तरह धर्मों को जान लें तो हमारा अज्ञानांधकार दूर होगा और प्रज्ञा का प्रकाश फूटेगा। नाम और रूप का ही विस्तार पञ्चस्कंध, बारह आयतन, और अट्ठारह धातुओं में किया गया है। **दसुत्तर सुत्त** में इन दो धर्मों को परिज्ञेय धर्म कहा गया है।

पुनः अविद्या और भव तृष्णा को अच्छी तरह से जानने की बात कही गई है। भगवान बुद्ध ने इन दोनों को विस्तार से बताया है। अविद्या का अर्थ अज्ञान है जो एक अकुशल हेतु है, इसे मोह भी कहते हैं। प्रतीत्यसमुत्पाद का प्रारम्भ भी अविद्या से किया जाता है। चार आर्यसत्यों का ठीक से ज्ञान नहीं होना, प्रतीत्यसमुत्पाद का सम्यक ज्ञान नहीं होना अविद्या है तथा कुशल धर्म और कुशल कर्म के हेतु को न जानना ही अविद्या है। सम्यक दृष्टि के यह विपरीत है।

तृष्णा को दुःख का समुदय कहा गया है और यह तीन प्रकार की कही गई है। काम तृष्णा, भव तृष्णा और विभव तृष्णा। वस्तुओं के प्रति निर्वाध आर्कषण से काम तृष्णा की उत्पत्ति होती है। भव तृष्णा संसार में पुनः जन्म लेने की चाह है और विभव तृष्णा संसार में नहीं होने की चाह है। भव तृष्णा से ही संसार-चक्र सृजित होता है।

पुनर्जन्म को एवं पूरी तरह उच्छेद हो जाने को क्रमशः भव दृष्टि और विभव दृष्टि कहते हैं। इसकी विस्तृत चर्चा **ब्रह्मजाल सुत्त** में वर्णित बासठ प्रकार की मिथ्यादृष्टियों में शाश्वतवाद और उच्छेदवाद के अन्तर्गत आती है। इन दोनों धर्मों को **दसुत्तर सुत्त** में प्रहातव्य धर्म कहा गया है।

नैतिक जीवन बिताने के लिए ह्री और अपत्रपा का ज्ञान आवश्यक है। आत्मलज्जा के कारण ही या आत्मगौरव के कारण यदि कोई अनैतिक काम नहीं करता है तो इसका अर्थ यह हुआ कि उसमें ह्री है। दूसरे क्या कहेंगे या दूसरों की उँगली उठाने के भय से अगर कोई अनैतिक काम नहीं करता है तो वह ओतप्प (अपत्रपा) है। ये दोनों कुशल चैतसिक हैं और अह्री एवं अनोतप्प दोनों अकुशल चैतसिक हैं। जो मनुष्य अकुशल के साथ मैत्री करता है उसका आध्यात्मिक पतन निश्चित है, अवश्यंभावी है। इसीलिए उसे चाहिए कि वह कुशल धर्मों के साथ मैत्री करे। इसलिए 'दोवचस्सता' पापमित्तता, सोवचस्सता एवं कल्याण मित्तता के विषय में जानना परमावश्यक है। **दसुत्तर सुत्त** में दोवचस्सता एवं पापमित्तता को **हानभागिय** धर्म तथा सोवचस्सता एवं कल्याणमित्तता को **विसेसभागिय** धर्म कहा गया है। यदि मनुष्य अपने दोषों को, अपने द्वारा किये गये आपत्तियों को अच्छी तरह जान ले तो उनसे बचने का वह प्रयास कर सकता है। ध्यान के बारे में, धातुओं के बारे में, आयतनों के बारे में, प्रतीत्यसमुत्पाद के निदानों के बारे में, गहराई से एवं विस्तार से यदि वह जान ले तो यह जानना उसके एवं लोक के हित में होगा। ऐसे ही धर्मों को **आपत्तिकुसलता, आपत्तिवुट्ठान कुसलता, समापत्ति कुसलता समापत्ति वुट्ठान कुसलता, धातु कुसलता, मनसिकारकुसलता, आयतन कुसलता** और **पटिच्च समुप्पाद कुसलता** कहा गया है। यह जान लेना कि किस विशेष कारण से कोई विशेष कार्य हुआ और किस विशेष कार्य में कोई विशेष कारण नहीं है, क्रमशः **ठान कुसलता** और **अट्ठान कुसलता** है। ऋजु होना एक अच्छा गुण है। इसका अर्थ सरल होता है। इसलिए आर्जव गुण की वृद्धि करनी चाहिए। मनुष्य में लज्जा का होना अत्यन्त आवश्यक है। यह मनुष्य को दुष्कर्मों से बचाती है। पुनः धैर्य और सौरत्य आध्यात्मिक जीवन पथ पर चलने के लिये आवश्यक है। दीर्घ आध्यात्मिक पथ पर चलने वाले के पास यदि धैर्य न हो तो वह अपनी यात्रा कभी पूरा नहीं कर सकता। बोलचाल में नम्रता और सौजन्य भी आवश्यक गुण हैं। कहा भी गया है कि प्रिय वाणी बोलनी चाहिए अप्रिय नहीं। अप्रिय सत्य भी नहीं बोलना चाहिए। इसलिए साखल्य (मैत्री) एवं पटिसंथार (हार्दिक स्वागत) आदि गुणों का विकास आवश्यक है। दया और प्रेम शील सम्बन्धी गुण हैं। सभी प्राणियों के प्रति दया एवं सभी से प्रेम उदात्त मानवीय गुण हैं। इनका

विकास भी जीवन में आवश्यक है। इन्हें क्रमशः अविहिंसा एवं सोचेय्य (पवित्रता, शुचिता) कहते हैं।

आध्यात्मिक जीवन जीने के लिए अप्रमाद का होना आवश्यक है। स्मृति और सम्प्रज्ञान का विकास और असम्प्रज्ञान एवं मुट्ठसच्च का त्याग आवश्यक है। हम जानते हैं कि प्रमादी कभी भी आध्यात्मिक जीवन नहीं बिता सकता। प्रमाद हमारा बड़ा शत्रु है। धम्मपद में प्रमाद के विषय में ऐसा कहा गया है।

अप्पमादो अमतपदं, पमादो मच्चुनो पदं।
अप्पमत्ता ना मीयन्ति, ये पमत्ता यथा मता।।[1]

प्रमाद न करना अमृत पद का साधक है। और प्रमाद करना मृत्यु पद का। अप्रमादी नहीं मरते किन्तु प्रमादी तो मरे तुल्य ही हैं।

प्रमाद अधिक खाने से भी उत्पन्न होता है। इसलिए भोजन की मात्रा का ज्ञान आवश्यक है। कोसल संयुत्त में भगवान बुद्ध ने राजा प्रसेनजित को इस प्रमाद से बचने का उपाय बताया है। द्रोण भर भोजन खाने वाला राजा प्रसेनजित जब नालिक भर भोजन करने लगा तो उसका स्वास्थ्य अच्छा हो गया और शारीरिक एवं मानसिक स्फूर्ति बनी रही। आलस्य समाप्त हो गया।

इन्द्रियों की रक्षा आवश्यक है। यदि हम इन्द्रियों के द्वारों पर चौकसी एवं सावधानी न बरतें तो इन द्वारों से कई तरह के शत्रु हमारे अन्दर प्रवेश कर जायेंगे। इन्द्रिय द्वारों से ही हमारे अंदर तृष्णा की उत्पत्ति के कारण आते हैं। इसलिए इनकी रक्षा आवश्यक है। आध्यात्मिक जीवन बिताने के लिए समाधि का अभ्यास करने के लिए इन्द्रियों की गुप्तद्वारता परमावश्यक है। इसकी चर्चा **सामञ्ञफल सुत्त** में भी मिलती है। इसलिए भोजन कम करना चाहिए और इन्द्रियों की स्मृति और सम्प्रज्ञान से रक्षा करनी चाहिए। स्मृति और सम्प्रज्ञान को **दसुत्तर सुत्त** में बहुकारी धर्म कहा गया है। ऐसा होने से समाधि के अभ्यास में सहायता मिलती है। समाधि के अभ्यास के लिए यह जानना आवश्यक है कि किन गुणों के विकास से समाधि लगेगी और किन गुणों के रहने से इसकी भावना की जा सकती है। इसलिए पटिसंखान बल, भावना बल, सति बल और समाधि बल का विकास आवश्यक है।

ध्यान के दो प्रकार कहे गये हैं जिसकी सविस्तार चर्चा तिपिटक में जगह-जगह पर तो है ही, विशुद्धिमार्ग में अधिक है। समथ और विपस्सना दो प्रकार की समाधि

---

1. धम्मपद गाथा सं. 21.

कही गई है। समथ का अर्थ उस मानसिक अवस्था से है जब सारी इन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं और चित्त की एकाग्रता अन्तिम रूप से प्राप्त हो जाती है। ऐसी अवस्था में आने पर जब हम अपने अन्दर होने वाली घटनाओं को देखते हैं और यह देखने लगते हैं कि ऊपर से ठोस दिखने वाला यह शरीर किन सतत परिवर्तनशील रहने वाली वेदनाओं एवं चैतसिकों से बना है, तब हम आध्यात्मिक यात्रा के उस मील के पत्थर पर पहुंचते हैं जहाँ हमें वस्तुओं का वास्तविक ज्ञान प्राप्त होने लगता है। वस्तुओं के असली ज्ञान प्राप्त होने से विराग की उत्पत्ति होती है और चित्त की अचंचलता बढ़ती है। इसे अविक्षेप कहते हैं और हम किसी एक वस्तु पर ध्यान करने की शक्ति विकसित करते हैं जिसे हम 'पग्गह' कहते हैं। इससे हम और आगे बढ़ते हैं। शील विपत्ति एवं दृष्टि विपत्ति से बचकर शील सम्पदा एवं दृष्टिसम्पदा प्राप्त करते हैं तथा हम शील विशुद्धि और दृष्टि विशुद्धि प्राप्त करते हैं। दृष्टि की विशुद्धि होने पर हम उसे विशुद्ध रखने के लिए संघर्षरत होते हैं और जब हमारा चित्त संविग्न या उद्विग्न हो जाता है तब हम उसे संवेगों से दूर करने की कोशिश करते हैं। कुशल धर्म तथा कुशल कर्म कर कभी संतुष्ट न होना अर्थात् और अधिक कुशल कर्म करने की चाह रखना तथा करने के लिए सतत प्रयत्नशील रहना भी आध्यात्मिक विकास के लिए आवश्यक गुण हैं। इन्हीं सब गुणों की चर्चा समथ, विपस्सना, समथ निमित्त, पग्गह निमित्त, पग्गह-अविक्खेप, सील विपत्ति, दिट्ठि विपत्ति, सील सम्पदा, दिट्ठि सम्पदा, सील विसुद्धि, दिट्ठि विसुद्धि आदि से की है। इस तरह अन्त में विद्या अर्थात प्रज्ञा की प्राप्ति होती है। वे **अम्बट्ठ सुत्त**[1] में वर्णित "चरण" के अन्तर्गत आते हैं। चरण अर्थात शील और समाधि। हिरी और ओतप्प यदि शील है, क्षांति और सौरत्य यदि शील है, इन्द्रियों की गुप्तद्वारता और भोजन की मात्रा का ज्ञान यदि शील है तो समथ और विपस्सन आदि समाधि है। समथ और विपस्सना को **दसुत्तर सुत्त** में भावेतव्य धर्म कहा गया है। इन दोनों के अभ्यास से प्रज्ञा की प्राप्ति होती है तथा साधक यह जान जाता है कि वह सारे बंधनों से छूट गया। विमुक्ति का ज्ञान उसे हो जाता है। यह ज्ञान हो जाता है कि हमारी सारी तृष्णा का क्षय हो गया और अब पुनः तृष्णा की उत्पत्ति हममें नहीं होगी। **'खये ञाणं'** एवं **'अनुप्पादे ञाणं'** की प्राप्ति हो जाती है। इस तरह दो प्रकार के धर्मों के शीर्षक के अन्तर्गत संक्षिप्त रूप में शील, समाधि एवं प्रज्ञा की ही चर्चा की गई है। इन दोनों ज्ञानों को **दसुत्तर सुत्त** में उप्पादेतब्ब (उत्पादेतव्य) धर्म कहा गया है।

---

1. दी.नि. 1.85

तीन प्रकार के धर्मों के शीर्षक के अन्तर्गत सर्वप्रथम तीन अकुशल मूलों की चर्चा है और तत्पश्चात् तीन कुशल मूलों की। लोभ, द्वेष और मोह तथा अलोभ, अद्वेष एवं अमोह ये छः चित्तों के हेतु हैं। प्रथम तीन अकुशल मूलों को **दसुत्तर सुत्त** में **हानभागिय** धर्म तथा दूसरे तीन कुशल मूलों को **विसेसभागिय** धर्म कहा गया है। जितने प्रकार के चित्त हमारे अन्दर उत्पन्न होते हैं उनके कारण ये हेतुएँ हैं। तीन प्रकार के कर्म कहे गये हैं काय कर्म, वची कर्म और मनोकर्म। ये कर्म भी दो प्रकार के होते हैं कुशल और अकुशल। शील के पालन नहीं करने से ये कर्म दूषित हो जाते हैं और उसके पालन से कुशल कर्म कहे जाते हैं। प्राणि हिंसा, चोरी तथा मैथुन सेवन से काय कर्म दूषित हो जाते हैं तथा अहिंसा, अचौर्य एवं ब्रह्मचर्य पालन से कायकर्म कुशल कर्म कहलाते हैं। चार प्रकार के अकुशल वची कर्मों के करने से वची कर्म दूषित हो जाते हैं जैसे मृषावाद, परुषवाचन, पैशुण्यवाचन एवं संप्रलाप। इन कर्मों से बचना ही वची कर्म को शुद्ध एवं कुशल बनाना है। वितर्क और संकल्प दोनों का अर्थ एक ही है। इनका अर्थ **सुमंगल विलासिनी** में इस प्रकार किया गया है। काम तृष्णा, शत्रुता और निष्ठुरता ये तीन अकुशल वितर्क हैं। तीन कुशल वितर्क निम्नलिखित हैं:—नेक्खम्म, अब्यापाद और अविहिंसा। नेक्खम्म का अर्थ त्याग से है और अव्यापाद का अर्थ मित्रता तथा अविहिंसा का अर्थ दया है। इसी तरह तीन अकुशल संकल्प और तीन कुशल संकल्प हैं। और पुनः तीन अकुशल संज्ञा तथा तीन कुशल संज्ञा, तीन अकुशल धातु और तीन कुशल धातु हैं। धातु का अर्थ उस भव से है जहाँ मनुष्य मरणोपरान्त जाता है। अगर इच्छायें, शत्रुता तथा निष्ठुरता शेष रह गईं तो मरणोपरान्त किसी मनुष्य का जन्म क्रमशः जिन भवों में होगा उन्हें ही काम धातु, व्यापाद धातु और विहिंसा धातु कहेंगे। इन दुर्गुणों से जो मनुष्य बचा रहेगा उसका पुनर्जन्म जिन भवों में होगा वे नेखम्म धातु, अव्यापाद धातु एवं अविहिंसा धातु कहलाते हैं। पुनः तीन और धातुओं की चर्चा की गई है। काम धातु, रूप धातु और अरूप धातु जिन्हें **दसुत्तर सुत्त** में अभिज्ञेय धर्म कहा गया है। और इनके अतिरिक्त निरोध धातु, हीन धातु, मज्झिम धातु एवं प्रणीत धातु की भी चर्चा है। इनसे वैसे लोकों का अर्थ है जहाँ काम का प्राधान्य है तथा जो ब्रह्म लोक है तथा इन दोनों से ऊपर के जो लोक हैं वे अरूप धातु कहलाते हैं। रूपावाचर ध्यान की पूर्णता से रूप धातु की प्राप्ति और अरूपावचर ध्यान की पूर्णता से अरूप धातु की प्राप्ति होती है। लोकोत्तर चित्त की प्राप्ति होने से निरोध धातु की प्राप्ति होती है। जब तक हमारा चित्त कामावचर है वह हीन धातु में है, रूपावचर और अरूपावचर भूमि में रहने वाले मध्यम धातु प्राप्त करते हैं। एवं लोकोत्तर चित्त प्रणीत धातु को प्राप्त करते हैं।

तीन प्रकार की तृष्णाएँ कहीं गई हैं काम तृष्णा, भव तृष्णा और विभव तृष्णा। अर्थात् इसी जीवन में काम सुख की प्राप्ति, पुनर्जन्म एवं जीवन का उच्छेद। पुनः काम तृष्णा, रूप तृष्णा और अरूप तृष्णा और निरोध तृष्णा की चर्चा है। अर्थात् काम लोक में जीवन की चाह, ब्रह्मलोक में उत्पन्न होने की चाह तथा उससे भी ऊपर के लोक में जन्म की चाह तथा निम्नतम लोक में उत्पन्न होने की चाह, उच्चतम लोक में उत्पन्न होने की चाह एवं जीवन के उच्छेद की चाह विभिन्न प्रकार की तृष्णायें हैं। **दसुत्तर सुत्त** में काम तृष्णा, भव तृष्णा और विभव तृष्णा की चर्चा है जिन्हें प्रहातव्य धर्म कहा गया है।

तीन प्रकार के संयोजन सत्काय दिट्ठि, विचिकिच्छा और सीलब्वतपरामास हैं। शरीर में शाश्वत आत्मा का निवास है ऐसा विश्वास सत्काय दिट्ठि है। बुद्ध धर्म और संघ में संदेह करना विचिकिच्छा (विचिकित्सा) है और व्रत उपवास आदि से शुद्धि होगी ऐसा सोचना सीलब्बतपरामास है। ये संयोजन मनुष्य को भवचक्र से बांधे रहते हैं। जब तक इन संयोजनों का प्रहाण नहीं होता तब तक मनुष्य निर्वाण की ओर अभिमुख नहीं हो सकता। आश्रव एक प्रकार की गंदगी है। ये तीन प्रकार की कही गयी हैं:–कामासव, भवासव और अविज्जासव। बाद में चलकर एक और प्रकार के आश्रव की चर्चा है जो दिट्ठासव कहलाता है। भव तीन प्रकार के कहे गये है। कामभव, रूपभव और अरूप भव। अर्थात्, मनुष्य सर्वप्रथम तृष्णा की दुनिया में रहता है फिर उससे थोड़ा ऊपर उठता है और अन्त में सबसे ऊपर।

'एसना' तीन प्रकार की कही गई है। इसका अर्थ इच्छा है। पञ्चकामगुणों को प्राप्त करने की इच्छा, अच्छे भव में जन्म लेने की इच्छा तथा ब्रह्मचर्य व्रत पालन करने की इच्छा ये तीन प्रकार की इच्छायें हैं जो क्रमशः कामेसना, भवेसना और ब्रह्मचरियेसना कही जाती है। विधा घमंड या अभिमान को कहते हैं। मैं दूसरों से श्रेष्ठ हूँ, मैं दूसरों के बराबर हूँ तथा मैं दूसरों से हीन हूँ ये तीन विधायें हैं। अतीत अनागत और वर्त्तमान ये तीनों काल हैं। इन तीनों का उपयोग हम तब तक करते हैं जब तक हमें निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो जाती है। जो निर्वाण प्राप्त कर चुकता है उसके लिए समय का कोई अर्थ नहीं है। अतीत, अनागत और वर्त्तमान उसके लिए निरर्थक हैं। जब तक हम भवचक्र में बंधे रहते हैं तब तक हमारे लिए समय अर्थ रखता है। जो वीततृष्ण, वीतद्वेष और वीतमोह हो जाता है उसके लिए समय का कोई अर्थ नहीं है।

तीन अंतों की चर्चा में सत्काय अंत, सत्काय समुदय अंत और सत्काय निरोध अंत आते हैं। पुद्गल की उत्पत्ति और पुद्गल का निरोध ही तीनों अंत हैं।

दु:ख तीन प्रकार के कहे गये हैं। एक तो दु:ख है, दूसरा सङ्खार दु:ख है अर्थात यही दु:ख है कि हमारा अस्तित्व प्रतीत्यसमुत्पन्न है और तीसरा दु:ख है कि सभी वस्तुएँ सतत परिवर्तनशील हैं। हमारी स्थिति का प्रतीत्यसमुत्पन्न होना और हर क्षण परिवर्त्तनशील होना दु:ख ही है।

तीन प्रकार की रशियाँ कही गई है। अकुशल कर्मों के फलस्वरूप जो अकुशल विपाक होते हैं उसे '**मिच्छत्तनियतोरासि**' कहा जाता है। कुशल कर्म के करने से जो अनेक कुशल विपाक उत्पन्न होते हैं वे '**सम्मतनियतो रासि**' के अन्तर्गत आते हैं और इन दोनों से भिन्न '**अनियतो रासि**' कहे जाते हैं। अतीत अनागत और वर्त्तमान के बारे में मन में जो शंकायें और विचिकित्सायें उत्पन्न होती हैं तथा जिन्हें अपनी असमर्थता के कारण ठीक-ठीक नहीं जान सकते वे तीन प्रकार के तम या कंखाये हैं। अंधकार के कारण जिस प्रकार हम वस्तुओं को स्पष्ट रूप में नहीं देख सकते उसी प्रकार विचिकित्सा के कारण अतीत अनागत और वर्त्तमान के विषय में ठीक-ठीक नहीं जानते। तथागत हो जाने पर, बुद्धत्व की प्राप्ति कर लेने पर बुद्ध का कायकर्म वची कर्म और मनोकर्म शुद्ध रहता है। उन तीनों से संबंधित उनके कोई कार्य गलत नही होते। इसलिए बुद्ध यह कभी नहीं सोचते कि दूसरे हमारी इस बात को जान जायेंगे।

किञ्चना पलिबोध को कहते हैं। पलिबोध अर्थात बाधा। आध्यात्मिक पथ पर चलने में जो तीन सबसे बड़ी बाधायें हैं वे हैं राग, द्वेष और मोह। ये तीन अग्नियाँ भी हैं जिनसे मनुष्य को बचना है। और भी तीन प्रकार की अग्नियों की यहाँ चर्चा हैं। वह आग जिसकी पूजा की जाये, दूसरी आग वह है जिसे गृहस्थ की आग कही जाती है और तीसरी आग है जिसमें हम होम कर सकें। इस प्रकार तीन अग्नियाँ हुईं। आहुनेय्य अग्नि, गहपतेय्य अग्नि तथा दक्षिणेय्य अग्नि।

बौद्ध दर्शन में रूप का प्रत्यय बिल्कुल भिन्न है। यहाँ गुण को भी रूप कहा गया है। जैसे कक्खलता आदि पृथ्वी है और पग्धरता जल है। सत्ताइस प्रकार के रूपों की चर्चा सुत्त पिटक में आती है। अभिधम्म में यह 28 प्रकार का है। इसका वर्णन कई शीर्षकों में किया गया है। इस सुत्त में रूप के तीन वर्गीकरण किये गये हैं। प्रथम वह रूप जो दिखाई पड़ता है एवं हमें रोकता है। इसे सन्निदस्सन पटिघ रूप कहते हैं। दूसरे प्रकार का रूप जो अनिदस्सन सप्पटिघ है और तीसरे प्रकार का रूप अनिदस्सन अप्पटिघ है। सूत्र रूप में जो बात इस सुत्त में कही गई है उसका विस्तार हम अभिधम्म में पाते हैं। इसलिए यह नि:सन्देह माना जा सकता है कि अभिधम्म सुत्त पिटक मे उद्धृत सुत्तों का विस्तार रूप है।

सङ्खार तीन प्रकार के कहे गये हैं। हम जो भी कर्म करते हैं, उनका विपाक अवशेष रहता है और उसे ही संस्कार या सङ्खार कहते हैं। जिस तरह किसी बर्त्तन में सुगन्धित तेल हम रखें और पूरी तरह तेल निकाल देने के बाद भी उस बर्तन में सुगन्धि बनी रहती है उसी तरह अच्छे बुरे कर्मों का संस्कार बना रहता है। इसलिए संस्कार के तीन प्रकार कहे गये हैं। कुशल कर्म करने के कारण जो संस्कार शेष रहता है, वह पुञ्ञाभिसङ्खार है। अकुशल कर्म के कारण जो सङ्खार शेष रहता है वह अपुञ्ञाभिसङ्खार है तथा इन दोनों से भिन्न आनेञ्जाभिसङ्खार है। इस सबों की वृहत चर्चा विभङ्ग में पायी जाती है। **पुग्गलपञ्ञत्ति** में विभिन्न प्रकार के पुद्गलों की चर्चा है लेकिन इसका उत्स भी हम सुत्त-पिटक में ही पाते हैं। इस सुत्त में तीन प्रकार के पुद्गल कहे गये हैं-सेक्खो, असेक्खो और नेवसेक्खोनासेक्खो। अर्थात जो अर्हत नहीं हुआ है वह सेक्ख, जो अर्हत हो चुका है वह असेक्ख है तथा जो दोनों मे से कोई नहीं है वह नेवसेक्खोनासेक्खो है। मज्झिम निकाय[1] के प्रथम सुत्त में इन पुद्गलों की चर्चा है। एक और प्रकार से पुद्गलों की चर्चा कोसल संयुत्त[2] में मिलती है। स्थविरों के तीन प्रकार कहे गये हैं। जातिथेर वह जो उम्र में बड़ा है, धम्मथेर वह है जो सुप्रसिद्ध भिक्षु है और सम्मुति थेर वह है जो संघ द्वारा श्रेष्ठ कहा गया है। आध्यात्मिक जीवन में हमें लाभ तीन कारणों से प्राप्त होते हैं:-दान करने से, शील पालन करने से चाहे अभ्यास भावना करने से। इस तरह तीन प्रकार के पुण्य कार्य होते हैं। दान भय, शील भय और भावना भय। तीन कारणों से ही हम किसी को डाँट-फटकार सकते हैं। यदि हमने उसका कोई गलत काम देखा हो या सुना हो या हमारी यह शंका हो कि उसने ऐसा किया होगा इसलिए कहा गया है कि उसने दिट्ठेन (देखकर) सुतेन (सुनकर) या परिसंकाय (शंका होने) पर ही किसी को डाँट फटकारा है।

कामेच्छाएँ तीन प्रकार से उत्पन्न होती हैं। मनुष्य देव और विनिपातिक जीव जो अपनी इन्द्रियों के आलम्बन से चिपटे रहते हैं इस कारण से उनकी इच्छा उत्पन्न होती है। दूसरे प्रकार के देव जिन्हें निम्मान रति देव कहते हैं ऐसे हैं जो अपनी सर्जनाओं से चिपटे रहते हैं अर्थात उन्हें उन चीजों के प्रति आसक्ति होती है, जिनका वे निर्माण करते हैं। तीसरे प्रकार के देव जिन्हें परनिम्मितवसवत्ती देव कहते हैं ऐसे हैं जो सृष्टि की इच्छा रखते हैं। वे जिनकी सृष्टि करते हैं उन्हें वश में रखते हैं। इस तरह तीन प्रकार की कामोपत्तियाँ होती हैं।

---

1 म.नि. 1.1-9

2. सं.नि. 1.111

तीन प्रकार की सुखोपपत्तियों की चर्चा है। कहने का तात्पर्य है कि ये वहीं पुनर्जन्म देती हैं जहाँ सुख ही सुख है। ब्रह्मकायिक देवता ऐसे हैं जो अपने पूर्व के जन्मों में सुख उत्पन्न करते हैं और अभी सुख से विहरते हैं। आभस्सर देव ऐसे हैं जो सुख में डूबे हुए रहते हैं जो सुख ही सुख का आनंद लेते हैं और सुख में रहकर इस प्रकार का उदान कहते हैं:-क्या आनन्द है और क्या सुख है! तीसरे प्रकार के सुभकिण्ह देवता हैं जो रूप लोक में रहते हैं। वे भी सुख से भरपूर होकर सुख में निमग्न रहते हैं और उदात्त सुखों का आनन्द लेते हैं।

तीन प्रकार की प्रज्ञायें शैक्ष्य, अशैक्ष्य और नैव शैक्ष्यनाशैक्ष्य की दृष्टि से कही गई हैं। एक और दृष्टि से प्रज्ञा के तीन प्रकार कहे गये हैं। चिन्तामयी प्रज्ञा, सुतमयी प्रज्ञा और भावनामयी प्रज्ञा। जो प्रज्ञा अपने से पढ़कर प्राप्त होती है वह चिन्तामयी है, जो दूसरों से सुनकर प्राप्त होती है उसे श्रुतमयी प्रज्ञा कहते हैं और जो सतत भावना करने से होती है वह भावनामयी प्रज्ञा है। **विशुद्धि मार्ग** में इसकी विस्तृत चर्चा है जहाँ भावनामयी प्रज्ञा को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है।

आयुध कवच को कहते हैं। मनुष्य के हजारों आन्तरिक शत्रु हैं। जब तक कवच को धारण नहीं किया जाता तब तक शत्रुओं से रक्षा नहीं हो पाती। कैसा कवच पहनने से मनुष्य अपनी रक्षा कर सकता है? इसके उत्तर में कहा गया है कि बुद्धोपदेश सीखना, सुनना या जानना एक कवच है। दूसरा कवच वह ज्ञान है जो दूसरे से प्राप्त किया जा सके और तीसरा कवच तो प्रज्ञा स्वयं हैं। इन तीन कवचों को 'सुतावुध' 'पविवेकावुध' और 'पञ्ञावुध' कहा जाता है। प्रज्ञा दुर्भेद्य कवच है। प्रज्ञा की प्राप्ति से मनुष्य वस्तुओं के असली स्वभाव को जान सकता है। असली स्वभाव अर्थात अनित्य, दुःख और अनात्म भाव को देखता-समझता है। देख-समझकर वैराग्य विकसित करता है, राग से मुक्ति पाता है।

इस सुत्त में तीन इन्द्रियों की चर्चा है। एक इन्द्रिय वह है जिससे अज्ञात को जाना जाता है। दूसरा सिर्फ जानना है और तीसरा वह है जिससे पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति होती है। तीन प्रकार के चक्षु कहे गये हैं। मांसचक्षु, दिव्यचक्षु और प्रज्ञा चक्षु। मांस चक्षु वह है जिससे हम संसार की वस्तुओं को अपनी सीमा के साथ देख सकते हैं। दिव्य चक्षु से हम सारे विश्व की घटनाओं को देख सकते हैं। इसकी कोई सीमा नहीं है और प्रज्ञा चक्षु से हम संसार की वास्तविकता समझकर अपना आध्यात्मिक विकास कर सकते हैं। शिक्षायें तीन प्रकार की कही गयी हैं। अधिशील शिक्षा, अधिचित्त शिक्षा और अधिप्रज्ञा शिक्षा। ये क्रमशः शील, समाधि और प्रज्ञा हैं। भावना तीन प्रकार की कही गयी है-काय भावना, चित्तभावना और प्रज्ञा भावना। तीन अतिमहत्वपूर्ण

वस्तुएँ हैं दर्शन, प्रतिपदा और विमुक्ति। दर्शन का अर्थ दृष्टि है। प्रतिपदा का अर्थ मार्ग है और मार्ग पर चलकर ही हमें विमुक्ति मिलती है अर्थात ये तीनों क्रमशः सम्यक दृष्टि, सम्यक प्रतिपदा और निर्वाण हैं।

वैसे तो अभिधम्म में रूपावचर समाधि के पाँच प्रकार, अरूपावचर के चार प्रकार और लोकोत्तर के आठ प्रकार कहे गये हैं किन्तु यहाँ तीन प्रकार की समाधियों की चर्चा है। वह समाधि जिसमें वितर्क और विचार दोनों ही हैं, "सवितक्को सविचारो समाधि" कही जाती है। दूसरी प्रकार की समाधि में वितर्क नही रहता लेकिन विचार रहता है और तीसरे प्रकार की समाधि में वितर्क भी नहीं रहता और विचार भी नहीं रहता। वितर्क और विचार क्या है इसपर **अट्ठसालिनी**[1] में बुद्धघोष ने प्रभूत प्रकाश डाला है। एक और प्रकार से समाधि का वर्गीकरण किया गया है। इन तीन प्रकार की समाधियों से क्रमशः शून्यता पर चित्त को एकाग्र किया जाता है, बिना किसी निमित्त को सामने रखे ध्यान किया जाता है और वैसी समाधि की जाती है जिससे हमारी सारी इच्छायें नष्ट हो जायं।

सोचेय्य (शुद्धता) तीन प्रकार की कही गई है। कायशुद्धता वचीशुद्धता और मनोशुद्धता। तीनों प्रकार की शुद्धता आध्यात्मिक जीवन के लिए परमावश्यक है। यदि कोई मनुष्य जो सोचे वही कहे और वही करे तो यह मोनेय्य अर्थात मुनिभाव को प्राप्त कराने वाला धर्म है। इसके भी तीन प्रकार हैं:–काय मोनेय्य, वची मोनेय्य और मनो मोनेय्य।

निपुणता तीन प्रकार की कही गई है। वैसी निपुणता जिससे मनुष्य आध्यात्मिक पथ पर प्रगति करता है, वैसी निपुणता जिससे उसकी हानि होती है और वैसी निपुणता जिससे वह सफलता प्राप्त करता है। इन तीनों उपायों को क्रमशः आयकुशलता अपायकुशलता और उपाय कुशलता कहते हैं। तीन प्रकार के दर्प या मद कहे गये हैं। स्वस्थ होने का घमंड, युवा होने का घमंड और जीवित होने का घमंड:–आरोग्यमदो, योवनमदो और जीवितमदो। तीन प्रकार के मुख्य प्रभाव हैं जो मानव जीवन को बनाते हैं। अत्ताधिपतेय्यं अर्थात अपनी आलोचना आप करना, लोकधिपतेय्यं अर्थात यह सोचते रहना कि लोग मेरे बारे में क्या कहते हैं और धम्माधिपतेय्यं अर्थात आध्यात्मिक वस्तुओं का प्रभाव क्या पड़ता है।

वार्त्तालाप के तीन आधार हैं:–अतीत को लेकर, भविष्य को लेकर और वर्त्तमान को लेकर।

---

1. अट्ठसालिनी

विद्यायें तीन प्रकार की हैं:–पूर्वजन्मों का ज्ञान, सत्ताओं के कर्मानुसार च्युति एवं उत्पन्न होने का ज्ञान और आश्रवक्षय ज्ञान। इनका वर्णन **सामञ्ञफल सुत्त** में किया गया है। तीन प्रकार के चित्त की अवस्थायें या विहार कहे गये हैं। दिव्य विहार, ब्रह्म विहार और आर्य विहार। दिव्य विहार में चित्त देवताओं के चित्त की तरह हो जाता है, ब्रह्मविहार में ब्रह्मा की तरह तथा आर्य विहार में बुद्ध की तरह। अंत में तीन प्रकार के प्रातिहार्यों की चर्चा है:– ऋद्धि प्रातिहार्य, आदेशना प्रातिहार्य और अनुशासनी प्रातिहार्य।

इस तरह हम देखते हैं कि संगीति सुत्त में 'कौन–कौन से तीन धर्म है शीर्षक' के अन्तर्गत जिन धर्मों की चर्चा की गई है वे सभी अभिधम्म में किसी न किसी रूप में पाये जाते हैं। तीन धर्म कौन–कौन से हैं–इनकी गणना करने के पश्चात् सारिपुत्त ने भिक्षु संघ को वैसे चार–चार प्रकार के धर्मों का उपदेश किया एवं संघ से संगायन करने को कहा जिन्हें भगवान बुद्ध ने अपने उपदेश देने के क्रम में बताया था। इसके अन्तर्गत सर्वप्रथम महासतिपट्ठान[1] आता है जिसकी विस्तृत चर्चा मज्झिम निकाय के **महासतिपट्ठान सुत्त** में आयी है। भगवान ने कहा है कि सतिपट्ठान हित और सुख के लिये है, राग के उपशमन के लिए, ज्ञान की प्राप्ति के लिए है तथा निर्वाण की अवाप्ति के लिए है। इसका आध्यात्मिक जीवन में प्रभूत महत्व है इतना कि भगवान बुद्ध ने स्वयं कहा है कि यदि आधा सप्ताह भी सतिपट्ठान की भावना करे तो वह कल्याणकारी होगा।

प्रथम सतिपट्ठान काय की अनुपश्यना से अर्थ है कि काय को भीतर और बाहर से भलीभांति देखना एवं समझना, काय जिस अवस्था में रहे, उस अवस्था में उसे देखना, बैठने की मुद्रा में हो तो उसे जानना, खड़े होने की मुद्रा में हो तो उसे जानना आदि। पुनः इस शरीर के अन्दर क्या है इसको जानना। कैसे इसके अन्दर गंदगियाँ भरी हैं–उन्हें जानना और कैसे मरणोपरान्त यह शरीर श्मशान में पड़ा रहता है, कैसे इसे गिद्ध, कौए, शृगाल तथा कुत्ते आदि खाते हैं– इन्हें जानना। इस तरह शरीर विषयक स्मृति बनाये रखने से राग का उपशम होता है और मनुष्य वास्तविकता को समझता है। यह भी ज्ञान उसे होता है कि ऊपर से ठोस दीखने वाला शरीर भयंकर रूप से परिवर्तनशील है।

पुनः वेदना की अनुपश्यना की जाती है। कौन सी वेदना उत्पन्न हुई? सुख वेदना, दुःख वेदना या उपेक्षा वेदना और क्या ये वेदनायें शाश्वत हैं? अनुपश्यना से स्पष्ट हो जाता है कि न तो सुख वेदना स्थायी है और न दुःख वेदना और न उपेक्षा

1. दी.नि. 2.213–236. म.नि. 1.70–92

वेदना। सभी क्षणभंगुर एवं अस्थायी हैं। पुनः चित्त की अनुपश्यना की जाती है। कौन सा चित्त किस हेतु से उत्पन्न हुआ है? क्या वह चित्त सराग है या विराग। क्या वह द्वेषयुक्त है या द्वेषमुक्त, क्या मोह से उत्पन्न है या ज्ञान से उत्पन्न? इस तरह बार-बार भावना करने से चित्तों के बारे में पूर्णतः ज्ञान हो जाता है। धर्मानुपश्यना में धर्मों की अनुपश्यना की जाती है[1]। सम्मपधान का अर्थ प्रयत्न से है। चार तरह के प्रयत्न हैं। जो अकुशल धर्म उत्पन्न नहीं हुए हैं उन्हें उत्पन्न नहीं होने देने के लिए प्रयत्न करना, जो अकुशल धर्म उत्पन्न हो गये हैं उनको प्रहाण करने का प्रयत्न करना, अनुत्पन्न कुशल धर्म को उत्पन्न करने की चेष्य करना तथा उत्पन्न धर्म बना रहे, स्थिर रहे इसका प्रयत्न करना ये चार सम्यक प्रधान हैं। ये सैंतीस बोधिपक्षीय धर्मों में भी परिगणित किये गये हैं क्योंकि बोधि प्राप्त करने में इनसे बड़ी सहायता मिलती है।

ऋद्धिपाद (इद्धिपाद) का अर्थ निपुणता के चरण हैं। छन्द इद्धिपाद, वीरिय इद्धिपाद, चित्त इद्धिपाद एवं वीमंसा इद्धिपाद।

सुत्त पिटक में रूपावचर ध्यान के चार प्रकार हैं। प्रथम प्रकार में वित्तर्क और विचार के साथ प्रीति सुख और एकाग्रता रहती है। द्वितीय ध्यान में वितर्क और विचार का उपशम हो जाता है, केवल प्रीति सुख और एकाग्रता रहती है। तृतीय प्रकार के ध्यान में प्रीति का उपशम हो जाता है और केवल सुख और एकाग्रता रहती है तथा चतुर्थ प्रकार के ध्यान में दुःख और सुख दोनों का प्रहाण हो जाता है सिर्फ उपेक्षा और एकाग्रता रहती है। वितर्क विचार प्रीति सुख और एकाग्रता ध्यान के अंग कहे जाते हैं।

समाधि भावना चार प्रकार की कही गई है जिनके अभ्यास या विस्तार से इस जीवन में सुख मिलता है, प्रज्ञा की प्राप्ति होती है, स्मृति और सम्प्रजन्य का विकास होता है तथा आश्रवों का क्षय होता है। प्रथम ध्यान चार प्रकार का ध्यान है। दूसरा ध्यान वह है जब योगावचर सूर्य के, चन्द्रमा के प्रकाश पर ध्यान करता है। वह बढ़ते-बढ़ते ऐसा हो जाता है कि रात को भी योगावचर को सूर्य या चन्द्रमा की रोशनी दिखाई पड़ती है और दिन को अंधेरे पर ध्यान लगाने से अंधेरा दिखाई पड़ता है। तीसरे प्रकार के ध्यान में उत्पन्न हुयी वेदना के विषय में समझना होता है। कैसे वेदना उठी, कितनी देर तक रही तथा कैसे समाप्त हो गई। चौथी प्रकार की समाधि भावना में योगावचर पाँच उपादान स्कंधों पर ध्यान केन्द्रित करता है। रूप उपादान स्कन्ध पर ध्यान केन्द्रित कर यह सोचता है कि यह रूप है, यह रूप का समुदय है तथा यह रूप

---

25. वही

का नाश है। इसी तरह वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान के बारे में भी करता है। इस तरह वह चार प्रकार की समाधि की भावना करता है।

अप्पमञ्ञा चार हैं जिन्हें ब्रह्मविहार भी कहते हैं-मेत्ता, करुणा मुदिता और उपेक्खा। जब योगावचर मैत्री चित्त से या करुण चित्त से या मुदित चित्त से या उपेक्खा चित्त से विश्व की एक दिशा में सभी प्राणियों के बारे में सोचता है, फिर दूसरी दिशा के सभी प्राणियों के विषय में सोचता है, तीसरी दिशा के प्राणियों पर ध्यान केन्द्रित करता है, चौथी दिशा के प्राणियों पर ध्यान केन्द्रित करता है तब ऐसा करने से उसका चित्त सभी प्राणियों के प्रति मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा से भर जाता है। इस चित्त में सिर्फ मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्खा रहती है। क्रोध और द्वेष का नाममात्र भी नहीं होता।

जिन चार प्रकार के आरुप्पों (आकार सहित) की चर्चा की गई है, वे चार प्रकार के अरूपवाचर ध्यान हैं। इनकी चर्चा **सामञ्ञफल सुत्त** में तथा कई और सुत्तों में की गई है। अनंत आकाश, अनन्त विज्ञान, कुछ नहीं की अवस्था, और नेवसंज्ञानासंज्ञा ध्यान करना ही अरूपवाचर ध्यान है। चार प्रकार की अप्पसेनाएं हैं। अप्पसेन का अर्थ भिक्षुओं के आचरण का आधार है। योगावचर यह जानता है कि किसी चीज का अभ्यास बराबर करना है, दूसरी कोई ऐसी चीज है जिसका सहन करना है, तीसरी चीज का परिवर्जन करना है और चौथी चीज ऐसी है जिसे दबाना है। कहने का तात्पर्य कि अकुशल धर्म को दबाता है और छोड़ता है तथा कुशल धर्म के साथ जीना सीखता है। यह वह जानकर करता है।

उत्तम आर्य कुल में चार प्रकार के भिक्षु आते हैं। प्रथम वह जो जैसा भी चीवर मिले उससे संतुष्ट होता है और गलत ढंग से चीवर पाने का प्रयास नहीं करता। यदि चीवर नहीं भी मिले तो दुःखी नहीं होता और मिल जाने पर न तो वह लोभी होता है और न आनन्द से अभिभूत होता है। वह स्मृतिमान होकर इसका धारण करता है। इससे न तो वह आत्मप्रशंसा करता है और नहीं दूसरों की निन्दा या शिकायत करता है। वह दक्ष अनलस स्मृतिमान और सम्प्रज्ञ रहता है। इस तरह वह उत्तम आर्यवंश का होता है। इसी तरह का विचार वह भोजन और शयन में रख कर दूसरे और तीसरे प्रकार के आर्यवंश में आता है।

चौथे प्रकार के आर्यवंश में आने वाले भिक्षु वैसे होते हैं जो प्रहाण और भावना में लगे रहते हैं अर्थात जो प्रहातव्य है उसका प्रहाण करने में सचेष्ट तथा जो भावेतव्य है उसकी भावना करने में सचेष्ट होते हैं तथा ऐसा करके न तो आत्मप्रशंसा करते हैं और न परनिंदा करते हैं।

चार प्रकार के सम्यक प्रधान कहे गये हैं। प्रधान का अर्थ उत्पन्न वीर्य से है, कठिन प्रयत्न से है। प्रधान चार प्रकार के कहे गये हैं।

(1) संवर प्रधान का अर्थ आत्म नियंत्रण है।

(2) प्रहाण प्रधान का अर्थ अकुशल धर्मों का प्रहाण है।

(3) भावना प्रधान का अर्थ है कुशल धर्मों को विकसित करना और

(4) अनुरक्खण प्रधान का अर्थ है उनकी रक्षा करना।

यदि कोई भिक्षु चक्षु से रूप देखकर निमित्तग्राही और अनुव्यंजनग्राही न हो और इस तरह लोभ द्वेष आदि अकुशल धर्मों से अपने को अलग रखे तो उसका यह संवर प्रधान होगा। जब उत्पन्न काम वितर्क आदि को छोड़ता है, विनोदन करता है तो यह प्रहाण प्रधान कहलाता है। स्मृतिमान होकर विवेक के साथ विरागरहित होकर जब धम्मविचय, वीरिय, पीति, पस्सद्धि, समाधि और उपेक्खा बोध्यंगो की भावना करता है तो इसे भावना प्रधान कहते हैं और जब वह शरीर की कई अवस्थाओं (जैसे हड्डियों को, घाव लगे शरीर को, नीले पड़े शरीर को, छिन्न-विछिन्न हुए शरीर को या सजे हुए शरीर को देखकर इसकी रक्षा करता है तो वह अनुरक्खण प्रधान कहलाता है।

ज्ञान चार प्रकार के कहे गये हैं। धर्म का ज्ञान तथा मूलज्ञान से उत्पन्न और छोटे-छोटे ज्ञान, परचित विजानन ज्ञान और लोकप्रिय ज्ञान। और भी चार प्रकार के ज्ञान बताये गये हैं। चार आर्य सत्यों का अलग-अलग ज्ञान ही चार ज्ञान हैं। सोतापत्ति अवस्था को प्राप्त करने के चार अंग बताये गये है। उत्तम पुरुषों से संसर्ग, सद्धर्म का श्रवण, ध्यान पूर्वक काम करना तथा धर्म और अधर्म को जानना। सत्पुरुष संसर्ग का अर्थ भगवान बुद्ध में श्रद्धा रखना है, उनके द्वारा सद्यः फल देने वाले धर्म में विश्वास करना, भिक्षु संध में श्रद्धा करना इसके अन्तर्गत आते हैं।

जिन चार श्रमण फलों की चर्चा की गई है वे श्रोतापत्ति फल, सकृदागामी फल, अनागामी फल और अर्हत फल हैं।

धातु के चार प्रकार कहे गये हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु। आहार भी चार प्रकार के कहे गये हैं। कबलीङ्काराहार, स्पर्श, मनोसंचेतना और विज्ञान। विज्ञान की चार स्थितियाँ है। जब विज्ञान किसी रूप को आलंबन, संज्ञा को आलम्बन बनाकर या सङ्खार को आलंबन बनाकर उत्पन्न होता है, वृद्धि प्राप्त करता है और वैपुल्य को प्राप्त होता है। यही चार विज्ञान की स्थितियाँ हैं। चार ऐसे रास्ते हैं जिनपर चल कर

आदमी अधोगमन की ओर जाता है। पक्षपात करके, द्वेष या घृणा करके, मोह के कारण या भय के कारण।

भिक्षुओं में चार कारणों से तृष्णा उत्पन्न होती है-चीवर के लिए, पिण्डपात के लिए, शयनासन के लिए या अच्छे लोक में पुनर्जन्म के लिए। बर्मी अट्ठकथा के अनुसार भवाभव का अर्थ तेल घी और मधु भी किया गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि सुभोजन प्राप्त करने की इच्छा से भी तृष्णा की उत्पत्ति होती है।

चार प्रकार की प्रतिपदायें हैं। जब आध्यात्मिक राह पर चलना दुष्कर हो और अभिज्ञा सुस्त हो, जब राह दुष्कर हो अभिज्ञा तेजी से उत्पन्न हो रही हो, जब रास्ता सुकर हो किन्तु अभिज्ञा सुस्त हो जब रास्ता आसान हो और अभिज्ञा भी जल्दी उत्पन्न हो रही हो तो ये चार प्रतिपदाएँ है। एक और प्रकार से चार प्रतिपदाओं की गणना की गई है। जब अभ्यास अक्षमता के साथ की जाये, जब वह क्षमता के साथ की जाये, जब वह इन्द्रियों के दमन के साथ की जाये और जब शांति के साथ की जाये। धम्मपद चार प्रकार के कहे गये हैं। जब उत्तर धर्म की प्राप्ति निष्काम भाव से की जाये अथवा अव्यापाद से की जाये, पूरी स्मृति के साथ की जाये या पूर्ण समाधि के साथ की जाये। धर्म समादान चार प्रकार के हैं। एक वह है जिसमें अभी कष्ट है और भविष्य में भी इसका फल कष्टदायक ही होगा। इस तरह का धर्म समादान अट्ठकथा के अनुसार अचेलकों द्वारा अनुसरण किया जाता है। दूसरा धर्म समादान वह है जो अभी दु:खकर है किन्तु भविष्य में यह सुखकर होता है। वैसे धार्मिकों द्वारा इसका अनुसरण किया जाता है जिनमें राग की मात्रा अधिक है लेकिन जो कड़ा अध्यवसाय करते हैं। तीसरा धम्मसमादान वह है जो अभी सुखकर है किन्तु भविष्य में इसका फल कष्टकर होता है। ऐसा मार्ग रागाचित्त वाले अनुसरण करते हैं। चौथा धम्मसमादान वह है जो अभी भी सुखकारी है तथा भविष्य में भी सुखमय होता है। ऐसा श्रमणों द्वारा अभ्यास किया गया है। धर्म स्कंध चार प्रकार के हैं-शीलस्कंध, समाधिस्कंध, प्रज्ञास्कंध और विमुक्तिस्कंध अर्थात शील, समाधि, प्रज्ञा और विमुक्ति के विषय में सविस्तार वर्णन ही चार प्रकार के स्कंध हैं।

बल भी चार प्रकार के कहे गये है:-वीर्यबल, स्मृतिबल, समाधिबल और प्रज्ञाबल। ये सभी बल आध्यात्मिक मार्ग पर चलने की शक्ति देते हैं। वीर्य से ही योगावचर कठिन आध्यात्मिक पथ पर चल सकने में समर्थ हो सकता है। जब तक वह स्मृतिमान नहीं रहता तब तक वह इन्द्रिय की रक्षा नहीं कर सकता। इन्द्रियों के अरक्षित रहने से मन चंचल बना रहता है। वह समाधि का अभ्यास नहीं कर पाता

और प्रज्ञा की प्राप्ति नहीं कर सकता। इसलिए इन चारों बलों का आध्यात्मिक जीवन जीने के लिए बड़ा महत्व है।

अधिष्ठान संकल्प को कहते हैं। प्रज्ञा की प्राप्ति के लिए, सत्य के साक्षात्कार के लिए, लोभोत्पन्न करने वाली वस्तुओं के त्याग के लिए तथा अपने ऊपर नियंत्रण करने के लिए जो संकल्प लिये जाते हैं वे ही क्रमशः पञ्ञाधिट्ठान, सच्चाधिट्ठान, चागाधिट्ठान और उपसमाधिट्ठान कहलाते हैं। प्रश्न के उत्तर देने के चार प्रकार हैं जिन्हें '**चत्तारिपञ्हब्याकरणानि**' कहा जाता है। '**एकंसब्याकरणीयो पञ्ह**' वह है जिसमें प्रश्न का उत्तर सीधे दे दिया जाता है। '**पटिपुच्छा ब्याकरणीयो पञ्ह**' का अर्थ हुआ प्रश्न का प्रश्न से उत्तर देना जैसे अजातशत्रु के यह पूछने पर कि श्रमण होने के लाभ क्या हैं तो भगवान ने राजा से यह प्रति प्रश्न किया था कि उनका ही यदि कोई भृत्य भिक्षु बन जाये तो वे क्या करेंगे। अजातशत्रु के उत्तर से श्रमण बनने के सांदृष्टिक फल मालूम पड़ जाते है। '**विभज्ज ब्याकरणीय पञ्हो**' का अर्थ विभाग करके, छोटा-छोटा टुकड़ा करके प्रश्न के उत्तर दिये जाते है। विभज्ज का अर्थ ही है विभाजन करना। जैसे नाम और रूप का विभाजन पञ्चस्कंधों में हुआ, पञ्चस्कन्धों का बारह आयतनों में और बारह आयतनों का अट्ठारह धातुओं में। '**ठपनीयो पञ्हो**' वह है जिसका उत्तर नहीं दिया जाता। भगवान बुद्ध से दस अब्याकत प्रश्न पूछे गये किन्तु उन्होंने इनका उत्तर देना समीचीन न समझा और चूलमालुंक्य पुत्त को इनका उत्तर नहीं दिया इसलिए इन्हें अव्याकत प्रश्न कहा जाता है।

कर्मों के चार प्रकार कहे गये हैं। प्रथम कर्म वह है जो अशुभ है और जिसका विपाक अशुभ है (**कण्हं कण्हविपाकं**), दूसरे प्रकार के कर्म वे हैं जो कुशल हैं और जिनका विपाक भी कुशल है (**सुक्कं सुक्कविपाकं**) तीसरे प्रकार के कर्म शुभ अशुभ दोनों ही हैं तथा जिनके फल भी शुभ अशुभ होते हैं (**कण्हसुक्कं कण्हसुक्कविपाकं**) और चौथे प्रकार के कर्म वैसे हैं जो न तो कुशल अकुशल हैं और न जिनका विपाक शुभ-अशुभ (**अकण्ह असुक्कं अकण्ह असुक्क विपाकं**)। ये चौथे प्रकार के कर्म कर्मों के क्षय करने वाले हैं। ऐसे कर्म अर्हतों द्वारा किये जाते हैं।

चार प्रकार के साक्षात्करणीय धर्म हैं। पूर्व जन्मों का ज्ञान स्पष्ट स्मृति से किया जाना चाहिए। प्राणियों की च्युति और उत्पत्ति का ज्ञान दिव्य चक्षु से किया जाना चाहिए। आठ विमोक्षों का साक्षात्कार शरीर से किया जाना चाहिए और आश्रवों के क्षय का ज्ञान प्रज्ञा से करना चाहिए। ओघ बाढ़ को कहते हैं। बाढ़ वह है जो नदी के

दोनों किनारों को पूर्णतया डुबो देती है। किनारों पर बसे बस्तियों को भी डुबो देती है तथा जिससे अपरिमेय हानि होती है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से ओघ चार प्रकार के कहे गये है:- कामओघ, भवओघ, दृष्टि ओघ और अविज्जाओघ अर्थात् कामच्छन्द, दूसरे भव में जन्म की इच्छा, मिथ्यादृष्टियाँ एवं अविद्या ये क्रमश: चार ओघ हैं। इनके कारण ही भवचक्र से मनुष्य बंधता है। इन चारों से छुटकारा पाने को विसंयोग कहते हैं। इसलिए चार तरह के विसंयोग कहे जाते हैं जैसे कामयोग विसंयोग भवयोग विसंयोग आदि।

ग्रन्थियाँ चार प्रकार की हैं। लोभ के कारण, द्वेष के कारण, शील और व्रत से शुद्धता होती है इस विश्वास के रहने के कारण, तथा यही सत्य है इस कारण ग्रंथियाँ उत्पन्न होती हैं। उपादान का अर्थ कसकर पकड़ना है। ये चार प्रकार के कहे गये हैं काम उपादान, दृष्टि उपादान, शीलव्रतउपादान और आत्मवाद उपादान।

योनियाँ चार प्रकार की कही गई हैं। अंडा से उत्पन्न होने से अंडजयोनि, गर्भ से उत्पन्न होने से जलाबुज योनि, पसीने से उत्पन्न संसदज योनि और बिना माता-पिता के उत्पन्न होने को ओपपातिक योनि कहते हैं। चार प्रकार की वाणियाँ अनार्य बोलते हैं। मृषावाद, पैशुण्यवाचा, परुषवचन एवं व्यर्थ का प्रलाप और इनके ठीक विपरीत चार प्रकार की आर्य वाणियाँ है- मृषावाद से विरति, पैशुण्यवाचन से विरति, परुष वचन से विरति और व्यर्थ के प्रलाप से विरति।

पुद्गल शीर्ष के अन्तर्गत चार-चार प्रकार के चार शीर्षो में सोलह तरह के पुद्गल बनेंगे। प्रथम प्रकार के पुद्गल अपने को दण्ड देते हैं, दूसरे प्रकार के दूसरे को दण्ड देते है, तीसरे अपने को और दूसरे को दण्ड देते हैं और चौथे प्रकार के पुद्गल न अपने को और न दूसरे को दण्ड देते हैं। अंतिम प्रकार के पुद्गल सर्वोत्तम है क्योंकि ये अर्हत हैं, पूर्ण हैं और निर्वाण प्राप्त किये हुए हैं।

दूसरे प्रकार के मनुष्यों के जो वर्ग किये गये हैं उसका सविस्तर वर्णन कोसल संयुत्त में किया गया है।

तीसरे प्रकार के मनुष्यों के जो वर्ग हैं उसमें एक अपने का हित सिद्ध करता है दूसरा दूसरे का, तीसरा न अपना और न अन्य का तथा चौथा अपना और दूसरे का भी।

चौथे प्रकार के मनुष्यों के वर्ग में समणमचलो (श्रोतापत्ति), समणपदुमो (सकदागामी) समणपुण्डरीको (अनागामी) और समण समणो (अर्हत) है।

पाँच-पाँच प्रकार के धर्मों के वर्गीकरण के अन्तर्गत पांच प्रकार के स्कन्ध पाँच प्रकार के उपादान स्कंध, काम गुण (पंचेन्द्रिय जन्य) आते हैं।

मरणोपरान्त मनुष्य की पाँच गतियाँ हैं, निरय, तिरश्चीन योनि, प्रेत, मनुष्य और देव। मात्सर्य नीच प्रवृत्ति को कहते हैं। यह भी पाँच प्रकार का होता है। आवास, कुल, लाभ, सौन्दर्य और धर्मज्ञान के प्रति जो भिक्षु यह भाव रखे कि किसी और को ये सुविधायें प्राप्त न हों यही प्रवृति मात्सर्य भी है।

नीवरण वे हैं जो ध्यान नहीं लगने देते। ये पाँच हैं। इन नीवरणों को दसुत्तर सुत्त में प्रहातव्य धर्म कहा गया है। वे पाँच संयोजन जो नीचे की ओर ले जाने वाले हैं- सत्काय दृष्टि, विचिकित्सा, शीलव्रत परामाश, कामच्छन्द और व्यापाद और पाँच वैसे संयोजन हैं जो अच्छे देव लोक में ले जाने वाले हैं-रूप लोक में जन्म लेने की इच्छा (रूपराग) अरूप लोक में जन्म लेने की इच्छा (अरूपराग) मान, उद्धच्च एवं अविज्जा।

शील की शिक्षा के लिए पाँच उपदेश दिये गये हैं। प्राणातिपात से विरति, चोरी से विरति, मैथुन से विरति, मृषावाद से विरति, एवं मद्यपान से विरति।

अभब्ब का अर्थ असंभव से है। अर्हत से पाँच काम कभी नहीं हो सकते-यह असंभव है- जैसे वे जानबूझकार किसी प्राणी की हिंसा नहीं कर सकते, चोरी नहीं कर सकते, मैथुन कार्य में लिप्त नहीं हो सकते, झूठ नहीं बोल सकते और जो वस्तुएँ संघ के लिए सुरक्षित हैं उनका सांसारिक सुख के लिए उपयोग नहीं कर सकते।

शील के पालन नहीं करने से, शील से च्युत होने पर पाँच दुष्परिणाम प्राप्त होते हैं। शील से च्युत व्यक्ति प्रमादी हो जाता है और प्रभूत धन की हानि सहता है। लोक में उसका अपयश फैलता है। क्षत्रिय, ब्राह्मण, गृहपति और श्रमण की सभा में जब वह जाता है तो वह आत्म विश्वास के साथ वहाँ नही बैठ सकता। ऐसा व्यक्ति जब मरता है तो होश खोकर मरता है और मरने के बाद वह दुर्गाति को प्राप्त होता है, अपाय एवं निरय में उत्पन्न होता है।

शीलवान व्यक्ति इन पाँचों दुष्परिणामों से तो बचता ही है साथ ही वह अप्रमादी होकर धनोपार्जन करता है, उसकी कीर्त्ति की ध्वजा सर्वत्र फहराती है और किसी की सभा में जाकर वह आदर प्राप्त करता है, होश के साथ रहता है और मरणोपरान्त उसे सुगति की प्राप्ति होती है और स्वर्ग में जन्म लेता है।

अगर कोई व्यक्ति किसी को डाँटना-फटकारना चाहता है तो उसके लिए उसमें पाँच गुण अवश्य होने चाहिए। समय पर सच बात मीठी बोली में उसकी भलाई के लिए न कि उसका दिल दुःखाने के लिये मैत्रीभाव से न कि शत्रुभाव से एवं इर्ष्यालु होकर कहनी चाहिए।

आध्यात्मिक साधना या प्रधान के पाँच अंग हैं। जिस व्यक्ति को भगवान बुद्ध के अर्हत, सम्यक सम्बुद्ध, विद्या-आचरण सम्पन्न, सुगत, लोकविद्, मनुष्यों के अनुत्तर सारथी तथा देवताओं के शास्ता होने में श्रद्धा है उसकी यह श्रद्धा प्रधान का प्रथम अंग है। दूसरा अंग है उसका निरोग होना, उसकी पाचन शक्ति का अच्छा होना और जो न तो अतिशीतल और न अतिउष्ण भोजन करने वाला है। तीसरा अंग यह है कि वह शठ और मायावी नहीं है। जो वह है वही अपने को समझे और कहे। चौथा अंग यह है कि वह अकुशल चित्तों को हटाने में सक्रिय हो और कुशल चित्त को विकसित करने में प्रयत्नशील। कुशल चित्त को विकसित करने में चाहे जितना प्रयत्न करना पड़े वह करने के लिए तैयार हो और पाँचवा अंग यह है कि वह प्रज्ञावान हो तथा वह वस्तुओं के उदय एवं अस्त को अच्छी तरह समझने वाला हो। ये पाँच **दसुत्तर सुत्त** में बहुकारक धर्म कहे गये हैं।

ऐसी कल्पना की गई है कि जो प्राणी कुशल कर्म करते हैं वे मृत्यु के पश्चात अच्छे लोक में पुनर्जन्म लेते हैं। इन्हें शुद्धावास कहा जाता है। ये पाँच सबसे अच्छे रूपलोक हैं जिनके नाम हैं- अविहा, अतप्पा, सुदस्सा, सुदस्सी एवं अकणिट्ठा।

पाँच प्रकार के पुरुष अनागामी होते हैं। प्रथम वह है जो जिस लोक में जन्म लेता है उसमें मध्य अवस्था के प्राप्त होने के पहले ही कालकवलित हो जाता है। दूसरा वह है जो मध्य अवस्था प्राप्त करके कालकवलित हो जाता है। तीसरा वह जिसकी मृत्यु बिना कष्ट के हो जाये। चौथा वह जो कष्ट से मरे और पाँचवा वह जो स्रोतापन्न होकर निर्वाणाभिमुख हो अकनिट्ठ लोक में उत्पन्न हो।

चेतोखिल आध्यात्मिक मरुस्थल को कहते हैं अर्थात वह अवस्था जहाँ रहकर मनुष्य की आध्यात्मिक प्रगति नहीं हो पाती। जब भिक्षु बुद्ध में विचिकित्सा करता है, संतुष्ट नहीं होता है तब उसका चित्त कठिन श्रम, कठिन तप, कठिन अनुयोग तथा सतत प्रधान के लिए अग्रसर नहीं होता है। इसी तरह जब वह धर्म, संघ और शिक्षा के प्रति विचिकित्सा की भावना रखता है तो प्रधान में उसका मन नहीं लगता है। तप और योग करने में उसका मन नहीं रमता। ये सभी ऐसी स्थितियाँ हैं जो आध्यात्मिक दृष्टिकोण से अच्छी नहीं कही जा सकतीं। पाँचवी स्थिति वह है जब वह अपने साथियों से क्रुद्ध होता है, उनको तंग करता है या उनसे तंग होता है। तब भी वह सतत साधना में जुट नहीं पाता। इन पाँच स्थितियों को **दसुत्तर सुत्त** के अनुसार हानभागिय कहा जाता है क्योंकि ये मनुष्य को पतन की ओर ले जाती हैं।

चित्त के पाँच बंधन हैं। राग और तृष्णा मनुष्य को आध्यात्मिक पथ पर नहीं

चलने देते। चित्त का अनुयोग और सतत प्रधान में न लगना ही प्रथम बंधन है। काय और बाह्य रूपों के प्रति जब तक मनुष्य वीततृष्ण और वीतराग नहीं हो जाता तब तक वह साधना नहीं कर सकता। ये दूसरे और तीसरे प्रकार के बंधन हैं। चौथा बंधन है अधिक खाकर आलसी होना। ऐसा होने से साधना के लिए जो श्रम की अपेक्षा होती है वह पूरा नही कर सकता। पाँचवा बंधन उसकी यह इच्छा कि वह शीलव्रत या तप से ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर इसी देवलोक में उत्पन्न हो। इस तरह की इच्छा रखने से भी वह कभी श्रम नहीं कर सकता। ये बंधन भी हानभागिय ही कहे जा सकते हैं।

इन्द्रियाँ पन्द्रह प्रकार की कही गई हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच वेदनाइन्द्रिय और शेष पाँच सद्धिन्द्रिय (श्रद्धेन्द्रिय), वीरियिन्द्रिय (वीर्येन्द्रिय), सतिन्द्रिय (स्मृतिन्द्रिय) समाधिन्द्रिय और पञ्ञिन्द्रिय (प्रज्ञेन्द्रिय)। अन्तिम पाँच इन्द्रियों को **दसुत्तर सुत्त** में विसेसभागिय धर्म कहा गया है।

पाँच वैसे धातु कहे गये हैं जो मोक्ष की ओर ले जाने वाले हैं। इन धातुओं को **दसुत्तर सुत्त** में दुष्प्रतिवेद्य धर्म कहा गया है। जब योगावचर काम पर ध्यान करता है तो उसका चित्त उससे विमुख होता है। लेकिन जब काम त्याग की बात करता है तब उसका चित्त ध्यान पर लगता है। तब वह अपने चित्त को अपने नियंत्रण में करता है। उसे अच्छी तरह कामों से मुक्त करता है और काम के कारण जो आस्रव, जो दुःख और जो ज्वर उसे तंग करते हैं उनसे वह विमुक्त होता है। यह पहली विमुक्ति है। इसी तरह जब वह व्यापाद, विहिंसा, बल, रूप एवं सत्काय से उत्पन्न होने वाले ज्वरों और पीड़ाओं से मुक्त हो जाता है तो ये द्वितीय तृतीय चतुर्थ एवं पंचम प्रकार की विमुक्तियाँ हैं।

छः प्रकार के धर्मों के शीर्षक के अन्तर्गत छः आयतन कहे गये हैं जो आन्तरिक हैं। छः बाह्य आयतन कहे गये हैं। छः प्रकार के स्पर्श कहे गये हैं। छः प्रकार के विज्ञान कहे गये हैं। छः प्रकार की वेदनायें कही गई हैं। छः प्रकार की संज्ञायें या आलम्बन कहे गये हैं। छः प्रकार की संचेतना कही गई है और इन तत्वों से उत्पन्न छः तृष्णायें कही गई हैं। इनमें से **दसुत्तर सुत्त** में छः आन्तरिक आयतनों को परिज्ञेय धर्म कहा गया है और छः तृष्णाओं को प्रहातव्य धर्म कहा गया है।

छः ऐसे धर्म हैं जिन्हें सौमनस्य उपविचार कहते हैं। चक्षु से रूप को देखकर आनन्दित होना, कान से शब्द सुनकर, नाक से गंध सूंघकर, जिह्वा से रसास्वादन कर, काय से स्पर्श कर, मन से धर्म को जान जो अनुभूति करता है उसी पर बार-बार विचार करता है। ठीक इनके विपरीत छः दौर्मनस्य उपविचार हैं और छः उपेक्षा उपविचार हैं। जिन छः धर्मों को **दसुत्तर सुत्त** में उत्पादनीय धर्म कहा गया है वे

उपेक्षा विहार हैं अर्थात् चक्षु का रूप को देखकर न प्रसन्न होना और न अप्रसन्न बल्कि उसमें उपेक्षाभाव रखना है और स्मृतिमान होकर, संप्रज्ञ होकर जीवन बिताना है वही धर्म उत्पादनीय है। यदि हम प्रसन्न होते हैं तो इसका अर्थ हुआ हम उसकी ओर आकर्षित होते हैं, उसके प्रति हमारे मन में राग पैदा होता है और यदि अप्रसन्न होते हैं तो उसकी ओर द्वेष या घृणा का भाव पैदा होता है। दोनों तरह की बातें बंधन में डालने वाली हैं लेकिन उपेक्षा भाव से इन बातों को ग्रहण करने से मनुष्य बंधन में नहीं पड़ता। इसलिए इस प्रकार जीवन जीने वाले को सतत विहारी कहा जाता है।

छः धातु कहे गये हैं पठवी, आपो, तेजो, वायो, आकास और विञ्ञाण। मेत्ता, करुणा, मुदिता और उपेक्षा–ये चार ब्रह्मविहार की भावना करने से तथा अनिमित्त एवं अस्मिमान से बचने पर निर्वाण की प्राप्ति होती है। ये छः निस्सरण कहे गये हैं। **दसुत्तर सुत्त** में इन छः धर्मों को दुष्प्रतिवेद्य कहा गया है।

अनुस्मृतियाँ छः प्रकार की कही गई हैं। बुद्धानुस्मृति, धर्मानुस्मृति संघानुस्मृति, शीलानुस्मृति, त्यागानुस्मृति और देवतानुस्मृति। ये चालीस कम्मट्ठानों में से छः कर्मस्थान हैं। श्रद्धा चरित पुरुष के लिए ये कर्मस्थान उपयुक्त हैं।

सात–सात प्रकार के धर्मों के शीर्षक के अन्तर्गत जिन धर्मों की चर्चा की गई है उनमें सर्वप्रथम आर्यधन है। श्रद्धा धन, शील धन, ह्री धन, अपत्रपा धन, श्रुत धन, त्याग धन और प्रज्ञा धन–इन सातों आर्य धनों को **दसुत्तर सुत्त** में बहुत उपकारी धन कहा गया है।

बोधि के सात अंग हैं। सति, धम्मविचय, वीरिय, पीति, पस्सद्धि, समाधि और उपेक्खा। इनसे बोधि की प्राप्ति में प्रभूत सहायता मिलती है। **दसुत्तर सुत्त** में इन सात धर्मों की भावना करने के लिए कहा गया है।

अच्छी तरह चित्त को नियंत्रित करने के लिए जिन परिष्कारों की आवश्यकता होती है वे सात हैं। हम जानते हैं कि अष्टांगिक मार्ग में आठ अंग हैं। उनमें एक सम्मा समाधि है। इसी सम्मा समाधि को पूरी तरह प्राप्त करने के लिए सम्मादिट्ठि, सम्मा संकप्पो, सम्मा वाचा, सम्मा कम्मन्तो, सम्मा आजीवो, सम्मा वायामो और सम्मा सति की आवश्यकता होती है।

सात संज्ञायें निम्नलिखित हैं–अनित्य संज्ञा, अनात्म संज्ञा, अशुभ संज्ञा, आदीनव संज्ञा, प्रहाण संज्ञा, विराग संज्ञा और निरोध संज्ञा। ऐसी संज्ञायें जब विकसित हो जाती हैं तब मनुष्य बहुत दूर तक आध्यात्मिक पथ पर प्रगति करता है और अन्ततोगत्वा निर्वाण की प्राप्ति करता है। **दसुत्तर सुत्त** में इन धर्मों का वर्गीकरण उत्पादेतव्य धर्मों के अन्तर्गत किया गया है। अर्थात् उनका उत्पादन अवश्य करना चाहिए।

सात प्रकार के बल कहे गये हैं। ये श्रद्धा, वीर्य, ह्री, अपत्रपा, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा हैं। ये सैंतीस बोधिपक्षीय धर्मों के अन्तर्गत आते हैं।

सात प्रकार के पुद्गल दक्षिणा के योग्य हैं। प्रथम वे जो दोनों ओर से मुक्त हैं (उभतोभाग विमुत्ता)। द्वितीय प्रकार के पुरुष वे हैं जो प्रज्ञाविमुक्त हैं। तीसरे जो कायसाक्षी हैं, चौथा जिन्होंने दृष्टियाँ जीत ली हैं, पाँचवा जो श्रद्धा से विमुक्ति पा चुके हैं, छठा वे जो धर्मानुसारी हैं और सातवां वे जो श्रद्धानुसारी हैं।

अनुशय वैसे धर्मों को कहते हैं जो हमारे मन के अन्तराल में छिपे, सोये पड़े रहते हैं। ये धर्म ऐसे हैं जो हानिकारक हैं। ये हैं:- कामराग, प्रतिघ, दृष्टि, विचिकित्सा, मान, भवराग और अविद्या। ऐसे सात धर्मों को **दसुत्तर सुत्त** में प्रहाण करने योग्य (प्रहातव्य धर्म) कहा गया है।

संयोजन सात प्रकार के कहे गये हैं। ये वैसे धर्म हैं जो हमें भवचक्र से बांधे रखते हैं। अन्त में यहाँ सात अधिकरण समथों की चर्चा की गई है जो विनयपिटक में पाये जाते हैं। इनका सम्बन्ध अभिधम्म से नहीं है। आपस के वाद-विवाद भिक्षु कैसे शान्त करते थे और झगड़े कैसे उत्पन्न होते थे ये यहाँ बताये गये हैं।

आठ प्रकार के धर्मों के शीर्षक के अन्तर्गत सर्वप्रथम आठ प्रकार की मिथ्या दृष्टियों की चर्चा है। अष्टांगिक मार्ग के जो आठ सम्यक अंग हैं, यहाँ मिथ्या एवं असम्यक बन गये हैं। ये धर्म हैं मिथ्या दृष्टि, मिथ्या संकल्प, मिथ्यावाचा, मिथ्याकर्मान्त, मिथ्या आजीव, मिथ्या व्यायाम, मिथ्या स्मृति और मिथ्या समाधि। **दसुत्तर सुत्त** में उन्हें प्रहातव्य धर्म कहा गया है।

ठीक इनके विपरीत अष्टांगिक मार्ग के आठ अंग हैं जिन्हें **दसुत्तर सुत्त** में भावेतव्य धर्म कहा गया है।

जो आठ प्रकार के पुद्गल दक्षिणा के योग्य हैं वे हैं–श्रोतापन्न एवं श्रोतापन्न होकर फल पाने वाला, सकदागामी और सकदागामी होने का फल पाने वाला अनागामी एवं अनागामी होकर फल पानेवाला एवं अर्हत होकर अर्हत फल पाने वाला। जिन आठ प्रकार के लोक-धर्मों का उल्लेख किया गया है वे है:- लाभ-हानि, यश-अपयश, निन्दा-प्रशंसा और सुख-दुःख। आठ प्रकार के अभिभायतनों (अधिपत्य) का भी उल्लेख हैं। इन धर्मों को अभिज्ञेय धर्म कहा गया है। पुनः आठ विमोक्षों का उल्लेख है। ये विमोक्ष साक्षात्करणीय हैं।

दसुत्तर सुत्त में नौ अनुपूर्व विहारों की चर्चा की गई है। वे चार रूपावचर ध्यान

चार अरूपावचर ध्यान और सञ्ञावेदयितनिरोध धर्म हैं। इन्हें **दसुत्तर सुत्त** में अभिज्ञेय धर्म कहा गया है।

दस-दस धर्मों के प्रकार के शीर्षक के अन्तर्गत सर्वप्रथम दस नाथकरण धर्मों की चर्चा है। ऐसे धर्मों के पालन से भिक्षु अपनी रक्षा कर सकता है। शीलवान होना, बहुश्रुत होना, कल्याणमित्र होना, सुवच होना, ब्रह्मचारियों के बीच रहकर अपना कर्तव्य पालन करने वाला होना, धर्मकाम होना, सन्तुष्ट होना, आरब्धवीर्य होना, स्मृतिमान होना एवं प्रज्ञावान होना तथा अपनी रक्षा करना ये दस नाथकरण धर्म हैं जिन्हें **दसुत्तर सुत्त** में बहूपकारी धर्म कहा गया है।

ध्यान के लिए चालीस कर्मस्थान कहे गये हैं। उनमें दस कसिण हैं, पठवी, आपो, तेजो, वायो, नील, पीत, लोहित, अवदात, आकाश और विञ्ञाण। इनमें प्रत्येक को ऊपर से नीचे, आड़े तिरछे रूप में जानना अच्छी तरह जानना कहा जाता है। इनको **दसुत्तर सुत्त** में भावेतव्य धर्म कहा गया है। दस अकुशल कर्म पथ निम्नलिखित हैं:–प्राणातिपात, चोरी, मिथ्याचरण, मृषावाद, पैशुण्यवाचन, परुषवाचन, व्यर्थ का प्रलाप, लोभ, व्यापाद और मिथ्यादृष्टि। इन्हें **दसुत्तर सुत्त** में हानभागिय धर्म कहा गया है। अर्थात् ये धर्म वैसे हैं जो भिक्षु को अवनति की ओर ले जाते हैं।

इन दसों के विपरीत जो धर्म हैं वे कुशल कर्मपथ कहे गये हैं जिन्हें **दसुत्तर सुत्त** में विसेसभागिय धर्म कहा गया है।

पाँच अंगों से मुक्त होने का अर्थ पाँच नीवरणों से मुक्त होना है, छः अंगों से समायुक्त होने का अर्थ है छः इन्द्रियों के द्वारों से आती हुई वेदना में अनासक्त होना अर्थात उपेक्षा भाव रखना, एकारक्ष होने का अर्थ है सब समय स्मृतिमान एवं सम्प्रज्ञ होकर इन्द्रियों के द्वारों की रक्षा करना।

साथ ही यदि वह भिक्षु यह समझ ले कि कुछ धर्म को बराबर पालन करना है अर्थात उसी के साथ जीना है, कुछ धर्मों को रखना है कुछ को दूर हटाना है या त्यागना है और कुछ को दबाना है तो ये उसके चार **अपस्सेन** हुए। **पणुन्नपच्चेक सच्चो** का अर्थ है उन विचारों को पूर्णतया त्याग देना जो श्रमण ब्राह्मण हठधर्मिता के रूप में पकड़े रहते हैं। हठधर्मिता से दृष्टियाँ सीमित हो जाती हैं। बासठ प्रकार की मिथ्या दृष्टियाँ जो **ब्रह्मजाल सुत्त** में परिगणित हैं सीमित हैं। भगवान बुद्ध इन सबसे ऊपर थे।

समवयसट्ठेसनो का अर्थ है कामेषणा, भवेषणा एवं ब्रह्मचर्येषणा का त्याग। अनाविलसंकल्प का अर्थ होता है साफ एवं सुलझा विचार रखना।

जब भिक्षु सुख-दुःख को छोड़कर उपेक्षाभाव से विहार करता है तो उसकी काया प्रश्रब्धि को प्राप्त करती है और जब वह राग, द्वेष और मोह से मुक्त होता है तो वह सुविमुक्त चित्त कहलाता है। जब उसे यह ज्ञान हो जाता है कि राग, द्वेष एवं मोह का मूलोच्छेद हो गया है, वे ताल वृक्ष की तरह कट गये हैं अब उनका पुनरागमन नहीं होगा तो वे सुविमुक्तप्रज्ञ हो जाते हैं। ऐसे गुणों से संपन्न दस प्रकार के भिक्षुओं का जीवन जीना आर्यवास कहलाता है।

ऐसे दस आर्यवासों को **दसुत्तर सुत्त** में दुष्प्रतिवेद्य धर्म कहा गया है। दस अशैक्ष्य धर्म कहे गये हैं। **सम्मादिट्ठि, सम्मासङ्कप्पो, सम्मा कम्मन्तो, सम्मा आजीवो, सम्मा वायामो, सम्मासति, सम्मा समाधि, सम्मा ञाण** और **सम्मा विमुत्ति**। ऐसे दस धर्मों को **दसुत्तर सुत्त** में अशैक्ष्य धर्म कहे गये हैं।

दसुत्तर सुत्त में दस आयतनों को परिज्ञेय धर्म कहा गया है दस मिथ्यता को (मिच्छादिट्ठि आदि और मिच्छा ञाण एवं मिच्छाविमुक्ति को) प्रहातव्य धर्म कहा गया है। पुनः दस संज्ञाओं को (**असुभसञ्ञा, मरणसञ्ञा, आहारे पटिकूलसञ्ञा सब्बलोकेअनभिरतिसञ्ञा, अनिच्चसंञ्ञा, अनिच्चेदुक्खसञ्ञा, दुक्खे अनत्तसञ्ञा, पहाणसञ्ञा,** और **निरोध सञ्ञा**) को उत्पाद करने योग्य धर्म कहा गया है।

दसुत्तर सुत्त में दस ऐसे धर्मों को कहा गया है जो पूरी तरह से सीखने योग्य हैं। इन्हें **निज्जर वत्थूनि** कहा गया है। सम्यक दृष्टि से मिथ्यादृष्टि को हटाना, मिथ्यादृष्टि से जो कुशल कर्म होते हैं उसे सम्यक दृष्टि से हटाया जा सकता है। सम्यक दृष्टि से अनेक प्रकार के कुशल कर्म सम्भव हैं। इससे धर्मों का विकास किया जाता है और परिपूर्णता की अवस्था में लाया जाता है। इसी तरह सम्यक संकल्प से मिथ्या संकल्प को, सम्यक वाणी से मिथ्यावाणी को, सम्यक कर्मान्त से मिथ्या कर्मान्त को, सम्यक आजीव से मिथ्या आजीव को, सम्यक समाधि से मिथ्या समाधि को, सम्यक ज्ञान से मिथ्या ज्ञान को और सम्यक विमुक्ति से मिथ्या विमुक्ति को तथा उनसे उत्पन्न अनेक अकुशल धर्मों को समाप्त किया जा सकता है।

दसुत्तर सुत्त में इन धर्मों को अभिज्ञेय कहा गया है। इस सुत्त में धर्मों के दस प्रकार कहे गये हैं। प्रथम वे जो आध्यात्मिक जीवन जीने में बहुत सहायता करते हैं, बहुकारी धर्म हैं, दूसरे वे धर्म हैं जिनकी भावना करनी चाहिए। तीसरा परिज्ञेय धर्म है जिसको जानना आवश्यक है। चौथे प्रकार के धर्म संग्रह को प्रहातव्य कहे गये हैं जिनका प्रहाण आध्यात्मिक जीवन जीने के लिए नितान्त आवश्यक है। धर्म का पाँचवा प्रकार वह है जो मनुष्य को पतन की ओर ले जाता है। ये धर्म हानभागिय कहे

गये हैं। ठीक इसके विपरीत धर्म का एक प्रकार है जो मनुष्य को प्रगति की ओर ले जाता है। वे विसेसभागिय कहे जाते हैं। एक ऐसे प्रकार के धर्म हैं जो दुष्प्रतिवेद्य हैं। अर्थात इनको समझना बहुत कठिन है। धर्म का आठवाँ प्रकार वह है जिसका उत्पादन आवश्यक है। इन्हें उत्पादेतव्य धर्म कहा गया है। धर्म का नौवाँ प्रकार वह है जिसको अच्छी तरह से जाना जाये। ऐसे धर्म को अभिज्ञेय धर्म कहा गया है। और अन्त में दसवें प्रकार के धर्म वे हैं जिनकी भावना करके साक्षात्कार किया जा सके। ये साक्षात्कार क़रने योग्य धर्म कहे गये हैं।

ऐसा लगता है कि **दसुत्तर सुत्त, सङ्गीति सुत्त** के बाद ही संकलित किया गया है। कारण स्पष्ट है। **सङ्गीति सुत्त** में जहाँ एक से लेकर दस प्रकार के धर्मों की परिगणना की गई है वहाँ दसुत्तर सुत्त में धर्म को बहुकारी, भावेतव्य, परिज्ञेय, प्रहातव्य, हानभागिय, विसेसभागिय आदि दृष्टिकोणों से देखकर संग्रह किया गया है। निश्चय ही अभिधम्म के विकास में यह एक आगे की कड़ी का काम करता है।

सङ्गीति सुत्त में एक धर्म के विषय में यह कहा गया है कि सभी प्राणियों के उत्पन्न होने का यह कारण है। **दसुत्तर सुत्त** में दस शीर्षकों में एक-एक धर्म बताये गये हैं। अप्रमाद कुशल धर्मों में बहुकारी, कायगतानुस्सति भावेतव्य है, स्पर्श आश्रवों का उत्पाद करता है और यह धर्म परिज्ञेय है। अस्मिमान (घमंड) प्रहातव्य है। अयोनिसोमनसिकार अर्थात् (सिलसिलेवार ढंग से नहीं सोचना) यह हानभागिय है। ठीक इसके विपरीत योनिसोमनसिकार विसेसभागिय है। आन्तरिक चेतोसमाधि दुष्प्रतिवेद्य है। अकुप्पज्ञान (निश्चित एवं अटल ज्ञान) उत्पादेतव्य है और अटूट एवं अटल चित्त की विमुक्ति साक्षात्कार करने योग्य है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ **सङ्गीति सुत्त** में सिर्फ एक अभिज्ञेय धर्म की चर्चा है, वहाँ दसुत्तर सुत्त में नौ और प्रकार के धर्मों की चर्चा है।

इनके अतिरिक्त **दसुत्तर सुत्त** में वैसे हेतु और प्रत्यय को जो प्राणियों को कलुषित करते हैं तथा वैसे हेतु और प्रत्यय को जो उन्हें विशुद्ध करते हैं दुष्प्रतिवेद्य कहे गये हैं। संस्कृत और असंस्कृत दो प्रकार के धातुओं को अभिज्ञेय कहा गया है एवं विद्या तथा विमुक्ति को साक्षात्कार करने योग्य धर्म बताया गया है। **दसुत्तर सुत्त** में सत्पुरुष संसेवन, सद्धर्म श्रवण तथा धर्मानुधर्म का ज्ञान बहुकारी धर्म कहा गया है। सवितर्क सविचार समाधि, अवितर्क विचार समाधि तथा अवितर्क अविचार समाधि को भावेतव्य धर्म कहा गया है। सम्पूर्ण तृष्णाओं से मुक्ति, सभी भौतिक वस्तुओं से मुक्ति और सभी संस्कृत वस्तुओं से मुक्ति-ये तीन निस्सरण धातु हैं जिन्हें **दसुत्तर सुत्त** में दुष्प्रतिवेद्य धर्म कहे गये हैं। अंत में तीन विद्याओं को-पूर्वजन्मों का ज्ञान,

प्राणियों की च्युति उत्पाद का ज्ञान तथा आश्रवों के क्षय का ज्ञान ऐसे तीन धर्मों को साक्षात्कार करने योग्य धर्म बताया गया है। **दसुत्तर सुत्त** में चार-चार के धर्मों के शीर्षक के अन्तर्गत सर्वप्रथम चार चक्रों की चर्चा की गई है जो बहुकारक धर्म कहे गये है। प्रथम पतिरूप देशवास है अर्थात् आवास जो उचित जगह हो वही इसका अर्थ है। दूसरा सप्पुरिस उपनिश्रय है जहाँ सत्पुरुषों से सम्पर्क हो सके। तीसरा अत्तसम्मापणिधि है जिसका अर्थ अपने को परिस्थितियों के अनुकूल ढालना है और चौथा अतीत में किये गये पुण्य हैं जिन्हें पुब्बेकतपुञ्ञता कहा गया है। यहाँ चार प्रकार के आहार परिज्ञेय धर्म कहे गये हैं तथा चार प्रकार के ओघ को प्रहातव्य धर्म कहा गया है। चार प्रकार के योग को हानभागिय और चार विसंयोगों को विसेसभागिय धर्म कहा गया है। चार प्रकार की समाधियों का यहाँ उल्लेख है। हानभागिय समाधि वह है जो पतन की ओर ले जाती है। ठितिभागिय समाधि वह है जो समाधि को बनाये रखती है। विसेसभागिय समाधि उत्थान की ओर ले जाने वाली होती है तथा निब्बेधभागिय समाधि निर्वाण की अवाप्ति कराती है। इन्हें दुष्प्रतिवेद्य कहा गया है। चार प्रकार के ज्ञान, धर्म का ज्ञान, अन्वय का ज्ञान परचित्त ज्ञान एवं सम्मुति ज्ञान- ये चार उत्पादेतव्य ज्ञान कहे गये हैं। चार आर्य सत्यों को अभिज्ञेय एवं चार श्रामण्य फलों को साक्षात्कार करने योग्य धर्म कहा गया है।

इनके अतिरिक्त **दसुत्तर सुत्त** में सम्यक समाधि के पाँच अंग कहे गये हैं। प्रीति, प्रीति का आधिक्य, सुखाधिक्य, चेतना का भरपूर विकास, आलोकाधिक्य एवं प्रत्यवेक्षण के लिए निमित्त का होना। ये पाँच **दसुत्तर सुत्त** में भावेतव्य धर्म कहे गये हैं। यहाँ पर पाँच उपादान स्कंध की चर्चा परिज्ञेय धर्म के अन्तर्गत है। पाँच इन्द्रियों को विसेसभागिय धर्म कहा गया है और पाँच स्कंधों को (शीलस्कंघ, समाधि स्कंध, प्रज्ञास्कंध, विमुक्तिस्कंध और विमुक्ति ज्ञान दर्शन स्कंध को) साक्षात्कार करने योग्य धर्म कहे गये हैं।

चतुर्थ अध्याय

इस अध्याय में हम मज्झिम निकाय के सुत्तों का अध्ययन करेंगे और यह दिखाने का भरसक प्रयत्न करेंगे कि भगवान बुद्ध ने अपने उपदेश के क्रम में विद्वान भिक्षुओं एवं साधारण जनों को भी वे बातें कहीं जो बाद में अभिधम्म पिटक में संकलित की गईं। अभिधम्म की बातें वस्तुत: इन सुत्तों में ही विद्यमान हैं।

मज्झिम निकाय के सुत्तों में भी अभिधम्म के तत्व विद्यमान हैं। **मूल परियाय सुत्त** में मनुष्य को तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया है। पृथक जन, शैक्ष्य और अशैक्ष्य। अशैक्ष्य क्षीणाश्रव होते हैं और पृथक जन में लोभ द्वेष और मोह पाये जाते हैं। अभिधम्म में लोभ द्वेष और मोह को अकुशल हेतु कहा गया है। इस सुत्त में इन अकुशल हेतुओं के अतिरिक्त तीन कुशल हेतुओं तथा तीन आश्रवों का उल्लेख है कामासव, भवासव और अविज्जासव का। शैक्ष्य की कोटि में सोतापन्न, सकदागामी और अनागामी आते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि **मूल परियाय सुत्त**[1] में जो बातें आई हैं वे अभिधम्म संबंधी ही हैं। इनके अतिरिक्त यहाँ दो प्रकार के सत्यों की चर्चा है-व्यावहारिक सत्य और पारमार्थिक सत्य। पारमार्थिक सत्य की दृष्टि से पृथ्वी जल अग्नि और वायु इत्यादि सभी अनित्य हैं।

सब्बासव सुत्त[2] में आश्रवों की चर्चा है। ये आश्रव तीन प्रकार के कहे गये हैं कौन से आश्रव मनसिकरणीय नहीं हैं, कौन से प्रहातव्य हैं और इनका प्रहाण कैसे होता है, प्रतिसेवन से या अधिवासन से, परिवर्तन से, विनोदन से अथवा यातना से-इन सारी बातों की यहाँ विशद चर्चा है।

धम्मदायाद सुत्त[3] में भगवान ने धर्म दायाद की चर्चा की है। धर्म दायाद अर्थात् विरासत, आमिस दायाद अर्थात् धन की विरासत के लिए उपदेश नहीं दिया गया है। यहाँ भी लोभ और द्वेष की चर्चा है, मध्यम मार्ग की चर्चा है, निर्वाण की चर्चा है तथा कई प्रकार के चैतसिकों जैसे मान, मद आदि की बात कही गई है।

---

1. म. नि., 13
2. वही, 11
3. वही, 18

भयभेरव सुत्त[1] में संक्षेप में यह कहा गया है कि जो तीन प्रकार के कर्मों को शुद्ध रूप से करते हैं अर्थात् जिनके कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म शुद्ध होते हैं उनको भय-भैरव नहीं सताता। इस सुत्त में भी चार प्रकार के सत्यों की तथा अष्टांगिक मार्ग की चर्चा है।

अनङ्गण सुत्त[2] में चित्त मलों के बारे में विस्तार से कहा गया है। वही चित्त निर्मल है जो रागरहित, द्वेष रहित और मोहरहित है।

आकङ्खेय्य सुत्त[3] में भगवान बुद्ध ने भिक्षुओं को शील सम्पन्न होकर प्रातिमोक्ष संवर से संरक्षित होकर, आचार-गोचर से संयुक्त होकर, छोटी सी बुराई से भय खाते हुए शिक्षापदों को ग्रहण कर सतत अभ्यास करने का उपदेश दिया है। अखंडित शील का पालन करने वाला बनना, चित्त को शमन करना, विपश्यना से युक्त होना तथा सूने घरों में विहार करना ही भिक्षुओं का प्रधान उद्देश्य होना चाहिए। उसकी यही आकांक्षा होनी चाहिए कि यदि वह चीवर, पिण्डपात, शयनासन, और ग्लान प्रत्यय भैषज्य परिष्कार का पाने वाला है तो वह शीलों का अखण्ड रूप से पालन करे। इस प्रसंग में शील की विस्तृत चर्चा है।

वत्थ सुत्त[4] में यह बताया गया है कि साफ कपड़े पर आसानी से कोई रंग चढ़ता है। मैले-कुचैले वस्त्र में तो रंग चढ़ेगा ही नहीं, वह बदरंग ही रहेगा। इस सन्दर्भ में चित्त के उपक्लेश अर्थात् मल की परिगणना की गई है। अभिध्या, व्यापाद, क्रोध, उपनाह, म्रक्ष, प्रदास, ईर्ष्या, मात्सर्य इत्यादि सोलह प्रकार के उपक्लेश कहे गए हैं जो चित्त को मैला बनाते हैं। इसी सुत्त में यह बताया गया है कि चार प्रकार के ब्रह्मविहार का सेवन करने से कैसे चित्त उपक्लेशों से मुक्त हो जाता है।

सल्लेख सुत्त[5] में आत्मवाद संबंधी या लोकवाद संबंधी अनेक प्रकार की दृष्टियों की चर्चा है। यहाँ पर भी बताया गया है कि कैसे इन दृष्टियों का प्रहाण होता है। बताया गया है कि जहाँ ये दृष्टियाँ उत्पन्न होती हैं, जहाँ ये आश्रय ग्रहण करती हैं, जहाँ पर व्यवहृत होती हैं वहाँ "यह मेरा नहीं, न यह मैं हूँ, न यह आत्मा मेरी है" इसे इस प्रकार यथार्थ तौर पर ठीक से जानकर देखने पर दृष्टियों का प्रहाण किया जा सकता है। इसी सुत्त में चार प्रकार के रूपावचर ध्यानों तथा चार प्रकार के अरूपवाचर ध्यानों का भी वर्णन है।

---

1. वही, 23
2. वही, 33
3. वही, 44
4. वही, 49
5. वही, 54

सम्मादिट्ठि सुत्त[1] में न केवल कुशल एवं अकुशल हेतुओं की चर्चा है बल्कि चार आर्य सत्यों, प्रतीत्यसमुत्पाद के बारह अंगों की भी विस्तार से चर्चा है।

सतिपट्ठान सुत्त[2] में दीघ निकाय में पाये जाने वाले महासति पट्ठान की तरह ही चार प्रकार की अनुपश्यनाओं की चर्चा है।

चूलसीहनाद सुत्त[3] में चार उपादानों के विषय में कहा गया है। काम उपादान, दृष्टि उपादान, शीलव्रत उपादान और आत्मवाद उपादान। उपादान का अर्थ आग्रह या ग्रहण है। जब हम इन्द्रिय भोग में लिप्त हो जाते हैं, कोई धारणा मन में बना लेते हैं, शीलव्रत को ही शुद्धि का साधन मानते हैं और आत्मा को नित्य मानने लगते हैं तो यही उपादान कहलाता है। इन उपादानों का कारण क्या है, ये किस जातिवाले हैं तथा किस उत्पत्ति वाले हैं इन बातों की भी चर्चा यहाँ विस्तार से की गई है। और इस सन्दर्भ में प्रतीत्यसमुत्पाद के बारह अंगों की बात कही गई है।

महासीहनाद सुत्त[4] में तथागत के चार वैशारद्यों की चर्चा है। साथ ही चार योनियों, पाँच गतियों इत्यादि की भी चर्चा है जो अभिधम्म की ही बातें है।

महादुक्खस्कन्ध सुत्त[5] में काम के आस्वाद, आदीनव, निस्सरण और निस्सरण के यथाभूत ज्ञान की चर्चा है। साथ ही किस प्रकार कामों के हेतु लोग काय से दुश्चरित करते हैं, मन से दुश्चरित करते हैं यह बताया गया है। काम के आदीनव को समझकर इससे निकलना मनुष्य का ध्येय होना चाहिए। उसी तरह वेदनाओं का दुष्परिणाम समझकर तथा यह जानकर कि वेदनायें चाहे सुख वेदना हो चाहे दुःख वेदना सभी अनित्य हैं। इनसे राग नहीं करना ही वेदनाओं से छुटकारा पाना है। यहाँ पर भी रूपावचर के चार ध्यानों की तथा वितर्क, विचार प्रीति आदि ध्यानाङ्गों की और सुख-दुःख, सौमनस्य-दौमनस्य तथा उपेक्षा इन पाँच प्रकार की वेदनाओं की चर्चा है।

चूलदुक्खस्कन्ध सुत्त[6] में भी चित्त के उपक्लेशों की चर्चा है। इनसे कैसे छुटकारा पाया जाय यह बात यहाँ बताई गई है।

---

1. वही, 62
2. वही, 76
3. वही, 90
4. वही, 63
5. वही, 117
6. वही, 126

चेतोखिल सुत्त[1] में चित्त के पाँच खिलों या बन्धनों का वर्णन विस्तार से किया गया है। ये पाँच चित्त बन्धन हैं कामों में अवीतराग होना, काया में अवीतराग होना, रूप में अवीतराग होना, सुख में फँसा रहना और किसी देवनिकाय में जन्म लेने के लिए प्रणिधान करके पालन करना।

मधुपिण्डिक सुत्त[2] में प्रपञ्च का उपशम कैसे होता है इसे विस्तार से बताया गया है। प्रपञ्च संज्ञा का जो कारण है वह अभिनन्दन योग्य नहीं है और वह गवेषण योग्य भी नहीं है। वह राग अनुशयों से जन्म लेता है और प्रतिघ, दृष्टि, विचिकित्सा, मान, भवराग, अविद्या से ही जन्म ग्रहण करता है। इन्हीं अनुशयों के कारण लोग चुगली खाते हैं, झूठ बोलते हैं और अनेक पापमय अकुशल कर्म करते हैं। यदि लोग इन प्रपञ्चों के असली कारण को यथाभूतज्ञान दर्शन से समझ जाय तो प्रपञ्च का उपशम हो जाता है। भगवान बुद्ध द्वारा संक्षेप में बताये गये प्रपञ्चोशम के कारणें को महाकात्यायन ने विस्तारपूर्वक भिक्षुओं को बताते हुए यह कहा था कि चक्षु और रूप के कारण चक्षुर्विज्ञान पैदा होता है और तीनों का समागम स्पर्श कहा जाता है। स्पर्श से वेदना होती है। जिस तरह की वेदना कोई अनुभव करता है उसका वह संज्ञान करता है। उसके बारे मे वितर्क करता है और यही वितर्क प्रपञ्च कहलाता है। इसी तरह शेष इन्द्रियों के बारे में भी जानना चाहिए। इस तरह का प्रपञ्च तभी नष्ट हो सकता है जब कोई इस बात को समझ ले कि चक्षु भी अनित्य है, रूप भी अनित्य है और चक्षुर्विज्ञान भी अनित्य है। जब ये सभी अनित्य हैं तब कैसा संज्ञान और कैसा वितर्क!

द्वेधावितक्क सुत्त[3] में काम वितर्क, व्यापाद वितर्क, विहिंसा वितर्क और इन तीनों के प्रतिरोधी, नैष्कम्य वितर्क, अव्यापाद वितर्क और अविहिंसा वितर्क के बारे में बताया गया है। कैसे भिक्षु प्रथम तीन की जगह दूसरे तीनों की भावना करता है यह इस सुत्त में बताया गया है। साथ ही रूपावचर के चार ध्यान और मिथ्या मार्ग के आठ अंगों की भी चर्चा यहाँ पर की गई है। जो आलोकाकांक्षी और योगक्षेमाकांक्षी पुरुष है वह आर्य अष्यंगिक मार्ग पर चलकर ही निर्वाण की प्राप्ति करता है।

अलगद्दूपम सुत्त[4] में धर्म को अच्छी तरह से जानने के लिए बताया गया है। जैसे साँप पकड़ने वाला यदि किसी साँप की पूंछ पकड़े तो वह उससे काटा जायेगा

---

1. वही, 137
2. वही, 146
3. वही, 153
4. वही, 174

लेकिन यदि वह उसे मुँह की ओर से पकड़े तो साँप उसे नहीं काट सकता। इसी तरह मनुष्य को चाहिए कि धर्म को यथाभूत जाने। इस तरह जाने कि रूप, वेदना, संज्ञा संस्कार और विज्ञान जो पाँच स्कन्ध हैं उनमें से कुछ भी 'मेरा नहीं है, वह मैं नहीं हूँ और न वह मेरी आत्मा है' ऐसा जानकर देखना चाहिए। यही असली जानना है।

वल्मीक सुत्त[1] में एक लम्बी उपमा के सहारे बहुत सारी बातें बताई गई हैं। इसमें निम्नलिखित पन्द्रह प्रश्न किये गये हैं-क्या है वल्मीक, रात का धुंधुवाना क्या कहलाता है, दिन का धधकना क्या है, ब्राह्मण कौन है, सुमेध कौन है, शस्त्र क्या है, अभीक्षण क्या है, लङ्गी क्या है, दो रास्ते कौन-कौन हैं, चंगवार क्या है, कर्म क्या है, असीसुना क्या है, मांसपेशी क्या है और नाग किसे कहते है? इसकी व्याख्या करते हुए भगवान बुद्ध ने कहा है कि वल्मीक माता-पिता से उत्पन्न भात-दाल से वर्द्धित चातुर्महाभौतिक काया का नाम है जो **नष्ट और विध्वंस** होने के स्वभाव वाला है। दिन के कामों के लिए रात का सोचना-विचारना रात का धुंआना कहलाता है और रात को सोच-विचारकर दिन को काया और वचन से कामों में योग देना दिन का धधकना है। ब्राह्मण तथागत को कहते हैं। लङ्गी अविद्या का नाम है। दो रास्ते संशय को कहते हैं। चंगवार का तात्पर्य पाँच नीवरणों से है, कामच्छन्द, व्यापाद, थिनमिद्ध उद्धच्चकुकुच्च और विचिकिच्छा। कूर्म से तात्पर्य पाँच उपादान स्कन्धों से है:- रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान। असीसुना पाँच काम गुणों को कहते हैं। मांसपेशी नन्दी अर्थात् तृष्णा को कहते हैं और नाग उस भिक्षु को कहते हैं जो क्षीणास्रव हो गया। इस रूपक में बहुत ही सुन्दर तथा सटीक ढंग से मनुष्य के दुःख तथा दुःख से छुटकारा में आनेवाली बाधाओं के बारे में कहा गया है। जब सारा लोभ, द्वेष और मोह समाप्त हो जाता है तब भिक्षु आश्रवरहित हो जाता है। इस तरह हम देखते हैं कि इस सुत्त में पाँच नीवरणों, पाँच उपादान स्कन्धों, पाँच कामगुणों तथा तृष्णा की चर्चा है।

रथ विनीत सुत्त[2] में शील विशुद्धि, चित्त विशुद्धि, दृष्टि विशुद्धि, कांक्षावितरण विशुद्धि, मार्गामार्ग ज्ञान दर्शन विशुद्धि, प्रतिपदा ज्ञानदर्शन विशुद्धि, और ज्ञान दर्शन विशुद्धि की चर्चा है। शील विशुद्धि की प्राप्ति ब्रह्मचर्य वास का अन्तिम उद्देश्य नहीं है। इसका महत्त्व तभी तक है, जब तक चित्त शुद्धि की प्राप्ति नहीं होती। चित्त विशुद्धि का महत्व विशुद्धि की प्राप्ति तक ही है। इस तरह ब्रह्मचर्यवास का अन्तिम उद्देश्य तो निर्वाण की प्राप्ति है। ये विशुद्धियाँ मील के पत्थर मात्र हैं।

1. वही, 174
2. वही, 192

निवाप सुत्त[1] में बहुत सारे विषयों की चर्चा है। इसमें दस अव्याकत प्रश्नों की भी चर्चा है और साथ ही चार रूपावचर और चार अरूपावचर ध्यान की भी।

पासरसि सुत्त[2] में भी इन ध्यानों की चर्चा है और पाँच गुणों की भी।

चूलहत्थिपदोपम सुत्त[3] में पाँच नीवरणों की बात आई है और यह विस्तार से बताया गया है कि तथागत का पद क्या है? अन्त में यह कहा गया है कि जब मनुष्य सभी आश्रवों से मुक्त हो जाता है- यही मुक्त होना तथागत का वास्तविक पद है।

महाहत्थिपदोपम सुत्त[4] में यह कहा गया है कि जितने कुशल धर्म हैं वे सभी चार आर्यसत्यों में समाहित हैं। उसी प्रसंग में चार महाभूतों, पाँच उपादान स्कन्धों आदि का वर्णन है।

महासारोपम सुत्त[5] में ब्रह्मचर्य का असली लाभ क्या है, इस पर प्रकाश डाला गया है। ब्रह्मचर्य का वास करना लाभ-सत्कार अथवा श्लोक पाने के लिए नहीं है, शील सम्पत्ति के लाभ के लिए भी नहीं है, यहाँ तक कि यश अथवा श्लोक पाने के लिए भी नहीं है, शील सम्पत्ति के लाभ के लिए भी नहीं है, यहाँ तक कि समाधि सम्पत्ति और ज्ञानदर्शन के लाभ के लिए भी नहीं है बल्कि कभी न च्युत होने वाली चित्त की मुक्ति के लाभ के लिए है।

चूलसारोपम सुत्त[6] में भी एक से बढ़कर दूसरे सार को बताया गया है। रूपावचर ध्यान के चारों भेद एक-दूसरे से बढ़कर हैं। अरूपावचर ध्यान भी रूपावचर से गुणात्मक भिन्नता लिये हुए है और अरूपावचर के अंतिम ध्यान प्रथम तीन से अधिक बढ़कर है, अधिक उत्तम है। इसमें भी चित्त की विमुक्ति को ही अन्तिम सार कहा गया है।

चूलगोसिङ्ग सुत्त[7] में एकान्त का महत्व बताया गया है। प्रसंगवश चार रूपावचर और चार अरूपावचर ध्यानों की भी चर्चा है।

महागोसिङ्ग सुत्त[8] में अभिधम्म की एक बड़ी गूढ़ बात बताई गई है। वह यह

---

1. वही, 200
2. वही, 209
3. वही, 226
4. वही, 235
5. वही, 243
6. वही, 248
7. वही, 256
8. वही, 263

है कि मनुष्य को अपने चित्त को वश में रखना चाहिए न कि चित्त के वश में होना चाहिए।

महागोपालक सुत्त[1] में चार स्मृति प्रस्थान या सतिपट्ठान और **चूलगोपालक सुत्त** में पाँच अवर-भागीय संयोजनों का प्रसंग है।

चूलसच्चक सुत्त[2] में रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान तथा अनित्य, दुःख और अनात्म की चर्चा है।

चूलतण्हासङ्खय सुत्त[3] में सभी प्रकार की तृष्णाओं को छोड़ने के लिए कहा गया है। किसी वस्तु का रागयुक्त ग्रहण ही दुःख का जनक है। तृष्णा को छोड़ना ही दुःख से छुटकारा पाना है।

महातण्हासङ्खय सुत्त[4] में प्रतीत्यसमुत्पाद के बारह अंगों और उनसे कैसे दुःख की उत्पत्ति होती है तथा बारह अंगों के निरोध से दुःख का कैसे निरोध होता है यह बताया गया है।

महाअस्सपुर सुत्त[5] और **चूलअस्सपुर सुत्त** में श्रमण कारक धर्मों के व्याख्यान के प्रसंग में चार रूपावचर ध्यानों की चर्चा है और तीन शारीरिक कर्मों, चार वाचिक कर्मों और तीन मनोकर्मों का भी वर्णन है।

सालेय्यक सुत्त[6] में सुगति कौन प्राप्त करता है, कौन स्वर्गलोक जाता है, इनके उत्तर के प्रसंग में शारीरिक, वाचिक और मानसिक कर्मों का वर्णन है जिनकी शुद्धता पर ही स्वर्ग जाना निर्भर करता है। इसी प्रसंग में कई लोकों की भी इसमें चर्चा है।

वेरञ्जक सुत्त[7] में भी लगभग यही बात है। महावेदल्ल सुत्त[8] में प्रज्ञावान कौन है इसकी विशद चर्चा की गई है। इसी प्रसंग में चारों आर्यसत्यों, प्रज्ञा और विज्ञान, वेदना संज्ञा इत्यादि का वर्णन है। प्रथम ध्यान कितने अंगो से युक्त है। इस प्रसंग में प्रथम ध्यान के पाँच अंगों की उपस्थिति तथा पाँच अंगों की अनुपस्थिति बताई गई

---

1. वही, 270
2. वही, 280
3. वही, 310
4. वही, 315
5. वही, 333
6. वही, 349
7. वही, 356
8. वही, 360

है। प्रथम रूपावचर ध्यान पाँच नीवरणों से विहीन और वितर्क विचार आदि पाँच ध्यानांगों से युक्त रहता है।

चूलवेदल्ल सुत्त[1] में शील स्कंध, समाधि स्कंध और प्रज्ञास्कन्ध में क्या समाहित रहता है, यह बताया गया है। साथ ही अनुशय (चित्त मल) के बारे में विस्तार से कहा गया है।

कन्दरक सुत्त[2] में चार स्मृति प्रस्थानों के बारे में कहा गया है।

अट्ठकनागर सुत्त[3] में रूपावचर, अरूपावचर ध्यानों तथा अवरभागीय संयोजनों को गिनाया गया है। अवरभागीय संयोजनों के क्षय होने से मनुष्य किसी देवलोक में पैदा लेकर ही निर्वाण प्राप्त कर लेता है, मनुष्य लोक में जन्म नहीं लेता।

सेक्ख सुत्त[4] में भी प्रातिमोक्ष संवरशील, दस शिक्षापद, स्मृति और सम्प्रजन्य की चर्चा है।

उपालि सुत्त[5] में कायदण्ड, वचीदण्ड और मनोदण्ड की व्याख्या के सिलसिले में मनोदण्ड ही महत्वपूर्ण है इसको भगवान बुद्ध ने प्रमाणित किया है। चेतना ही कर्म है।

चेतनाहं, भिक्खवे, कम्मं वदामि–यह पूर्णरूपेण यहाँ प्रमाणित है।

बहुवेदनीय सुत्त[6] में रूपावचर तथा अरूपावचर ध्यानों के बारे में कहा गया है।

भद्दालि सुत्त[7] में भी रूपावचर ध्यान का प्रसंगवश उल्लेख है।

लकुटिकोपम सुत्त[8] में भी चार रूपावचर ध्यानों तथा पाँच काम गुणों की चर्चा है।

गुलिस्सानी सुत्त[9] में उत्तर मनुष्य धर्म प्राप्ति के लिये क्या करणीय है इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि इन्द्रियों में गुप्तद्वारता, भोजन में मात्रा का ज्ञान,

1. वही, 369
2. म. नि. 2.3
3. वही, 15
4. वही, 72
5. वही, 43
6. वही, 72
7. वही, 120
8. वही, 131
9. वही, 156

जागरण में तत्परता, उद्योगिता, उपस्थित स्मृति, समाधि तथा प्रज्ञा का होना अनिवार्य है। इसी सुत्त में 'अभिधम्म' और 'अभिविनय' शब्द आया है। यहाँ अभिधम्म का अर्थ अभिधम्म पिटक से नहीं, अभिविनय का अर्थ विनय पिटक से नहीं किन्तु बुद्धोपदेश एवं भिक्षु भिक्षुणी नियम क्रमशः है। यदि अभिधम्म पिटक का संगायन प्रथम बौद्ध संगीति में हो गया रहता तो निकाय में कहीं न कहीं इसकी चर्चा आती। लेकिन जहाँ-जहाँ पर उच्चतर धर्म के बारे में कहा गया है वहाँ अभिधम्म शब्द का ही प्रयोग हुआ है। इसलिए यह मानना बिल्कुल उचित है कि अभिधम्म पिटक में सम्मिलित पुस्तकों का प्रणयन निकायों में वर्णित धर्म के आधार पर ही हुआ है। यह सही है कि भगवान ने ही अभिधम्म की शिक्षा दी है लेकिन उस रूप में नहीं जैसा थेरवादी परम्परा के कट्टर समर्थक मानते हैं।

दीधनख सुत्त मे तीन वेदनाएँ तथा प्रतीत्यसमुत्पाद का वर्णन है।

महासकुलुदायि सुत्त[1] में चारस्मृति प्रस्थानों की, चार सम्पक प्रधानों की, चार ऋद्धिपादों की, पाँच इन्द्रियों की, पाँच बलों की, सात बोध्यंगों की, अष्यंगिक मार्ग के आठ अंगों की तथा विमोक्षों की भावना करने का उपदेश दिया गया है और इसी प्रसंग में इन सबकी संख्या एवं नाम गिनाए गए हैं।

पियजातिक सुत्त[2] में दुःख की उत्पत्ति के कारण बताये गये हैं। यह भी अभिधम्म का विषय है। **घोटमुख सुत्त**[3] में पुग्गल पञ्त्ति की तरह चार प्रकार के पुद्गलों का वर्णन है, आत्मन्तप, परन्तप आत्मन्तप परन्तप, न आत्मन्तप और न परन्तप अर्थात् जो अपने को संताप देता है, जो दूसरे को संताप देता है, जो दोनों को संताप देता है और जो किसी को संताप नहीं देता है।

चङ्की सुत्त[4] में यह बताया गया है कि सत्य की रक्षा, सत्य का ज्ञान और सत्य की प्राप्ति कैसे होती है। सच्चानुरक्खण, सच्चानुबोध और सच्चानुप्पति में अन्तिम बहुत ही महत्वपूर्ण है और इसको मनुष्य कैसे प्राप्त कर सकता है इसे बताया गया है। इस प्रसंग में राग, द्वेष, मोह तथा अराग, अद्वेष और अमोह के बारे में बताया गया है। यह भी बताया गया है कि किन-किन धर्मों के सेवन करने से, भावना करने से, बढ़ाने से, सत्य की प्राप्ति होती है। सत्य प्राप्ति के लिए प्रधान बहुकारी धर्म है। इसे भी बताया गया है। प्रधान की प्राप्ति उद्योग से होती है, उद्योग उत्साह से, उत्साह छन्द से बढ़ता है आदि-आदि बताया गया है।

1. वही, 224
2. वही, 352
3. वही, 414
4. वही, 427

किन्ति सुत्त[1] में महासकुलुदायी सुत्त की तरह सैंतीस बोधिपक्षीय धर्मों को परिगणित किया गया है। ये हैं चार स्मृति-प्रस्थान, चार सम्यक प्रधान, चार ऋद्धिपाद, पाँच बल, सात बोध्यंग और आठ अष्यंगिक मार्ग।

सुनक्खत सुत्त[2] में चित्त का संयम कैसे किया जाता है, इसका वर्णन है। एक बड़ी ही अच्छी उपमा के सहारे यह बात बताई गई है कि जैसे शाखा से टूटा पीला पत्ता फिर हरा नहीं हो सकता वैसे ही अटल अधिमुक्त पुरुष सांसारिक लाभ के बंधनों में कभी नहीं पड़ सकते। इस सुत्त में भी अन्यसुत्तों की तरह आकिञ्चञ्ञायतन, नेवसञ्ञानासञ्ञायतन की परिगणना हुई है

गणक मोग्गल्लान सुत्त[3] में धर्म की क्रमिक प्रगति का जिक्र है। इसमें वे सभी धर्म गिनाए गये हैं जो बौद्ध धर्म के प्राण हैं, जैसे शील समाधि और प्रज्ञा।

महापुण्णम सुत्त[4] में पाँच स्कन्धों तथा इनकी उत्पत्ति कैसे होती है इसके बारे में बताया गया है। भगवान बुद्ध ने कहा है कि 'भिक्षु, उपादान और उपादान स्कन्ध एक नहीं हैं और पाँच उपादान स्कन्धों से अलग उपादान है।' पाँच उपादान स्कन्धों में जो छन्द है, राग है, वह उपादान है। इसी सुत्त में स्कन्धों का क्या आस्वाद है, क्या आदीनव है, क्या निस्सरण है, यह भी बताया गया है। रूप से जो सुख सौमनस्य उत्पन्न होता है वह रूप का आस्वाद है। रूप की अनित्यता, दुःखता और विपरिणामधर्मता रूप का दुष्परिणाम है और रूप में छन्दराग का हटाना ही राग का प्रहाण है। इसे ही निस्सरण कहते हैं। इसी प्रसंग में भगवान बुद्ध ने यह भी बताया है कि जो नित्य नहीं है वह दुःखकारक है और जो दुःखकारक है वह आत्मा कैसे हो सकती है? अर्थात् सभी अनित्य वस्तुओं को ऐसा जानना चाहिए कि 'यह मेरा नहीं है, यह मैं नहीं हूँ, यह मेरी आत्मा नहीं है।' सत्पुरुष, असत्पुरुष का भेद **चूलपुण्णम सुत्त** में दिखाया गया है। और दोनों में अंतर दिखाने के प्रसंग में कुशल-अकुशल धर्मों की चर्चा है। **अनुपद सुत्त** में सारिपुत्त के गुण, प्रज्ञा और समाधि आदि को बताने के प्रसंग में ध्यानों की चर्चा हुई है। और भी धर्मों की चर्चा हुई है।

छब्बिसोधन सुत्त[5] में इसका उपदेश दिया गया है कि अर्हत की पहचान कैसे की जा सकती है। इसी संबंध में बहुत सारे धर्मों की परिगणना की गयी है।

---

1. म. नि., 3.31
2. वही, 46
3. वही, 61
4. वही, 77
5. वही, 93

सप्पुरिस सुत्त[1] में पुनः एक बार **चूलपुण्णम सुत्त** की तरह सत्पुरुष और असत्पुरुष का भेद दिखाया गया है और रूपावचर, अरूपावचर, आदि ध्यानों की चर्चा है।

सेवितब्बासेवितब्बसुत्त[2] में उन सभी धर्मों की चर्चा है जिनके क्रमिक विकास से मनुष्य अनुत्तर संग्राम विजय पा सकता है।

महाचत्तारीसक सुत्त[3] में समाधि ठीक से लगे इसके लिए शील का किस तरह पालन किया जाय तथा अष्टांगिक मार्ग के सम्मासमाधि के पूर्वगामी धर्मों का कैसे पालन किया जाय, यह बताया गया है।

आनापानसति सुत्त[4] में चार प्रकार की अनुपश्यनाओं का वर्णन है। इसके अतिरिक्त संयोजनों की परिगणना, स्मृति-प्रस्थान, सम्यक-प्रधान आदि सैंतीस बोधिपक्षीय धर्मों की तथा चार ब्रह्मविहारों की परिगणना की गई है। साथ ही अशुभ, अनित्य संज्ञा और आनापान की भावना कैसे की जाय यह बताया गया है।

सङ्खारुप्पत्ति सुत्त[5] में प्रसंगवश कई देवलोकों की चर्चा है।

चूलसुञ्ञता सुत्त तथा **महासुञ्ञता सुत्त**[6] में क्रमशः अरूपावचर ध्यान और रूपावचर ध्यान की चर्चा है।

दन्तभूमि सुत्त[7] में चित्त की एकाग्रता कैसे प्राप्त की जा सकती है इसका उपदेश है। साथ ही पाँच नीवरणों तथा चार अनुपश्यनाओं की भी यहाँ परिगणना की गयी है।

बालपण्डित सुत्त[8] और **देवदूत सुत्त**[9] में नरक और स्वर्ग का वर्णन है।

भद्देकरत सुत्त[10] **आनन्द भद्देकरत सुत्त**[11] **महाकच्चानभद्देकरत्त सुत्त**[12] और

---

1. वही, 101
2. वही, 109
3. वही, 135
4. वही, 142
5. वही, 162
6. वही, 168
7. वही, 194
8. वही, 233
9. वही, 250
10. वही, 260
11. वही, 263
12. वही, 267

लोमसकङ्गिय भद्देकरत सुत्त[1] में भूत भविष्य की चिन्ता छोड़ वर्त्तमान में रहने का उपदेश दिया गया है। इन सुत्तों में विपस्सना ही सिखाई गई है।

चूल कम्मविभङ्ग सुत्त[2] और **महाकम्मविभङ्ग सुत्त**[3] में कर्मों के फल बताये गए हैं।

सळायतन विभङ्ग सुत्त[4] में छः स्पर्शकायों के साथ-साथ इन्द्रिय से विषय को देखकर सौमनस्य दौर्मनस्य या उपेक्खा वेदना जो उत्पन्न होती है उनके 18 मनोपचारों को यहाँ कहा गया है। सौमनस्य दौर्मनस्य और उपेक्षा वेदनाएँ भी लोक संबधी या निष्काम संबंधी होती है। इस प्रकार छः इन्द्रियों की छः वस्तुओं से उत्पन्न अट्ठारह प्रकार की वेदनायें छत्तीस हो जाती हैं चूंकि प्रत्येक वेदना के दो भेद दिखाये गये हैं। जब हम किसी इष्ट, कान्त, मनाप मनोरम वस्तु को चक्षु द्वारा लौकिक भोग की दृष्टि से देखते हैं तो उससे उत्पन्न सौमनस्य सामिष हो जाता है और जब इसे अनित्य विपरिणाधर्मा समझकर विराग जगाते हैं तो इस प्रकार सौमनस्य निष्कामता संबंधी सौमनस्य होता है। इसी तरह अन्य विषयों के बारे में भी जानना चाहिए। इसके द्वारा इसे छोड़ो का क्या तात्पर्य है? इसका अर्थ यही है कि छः निष्कामता संबंधी सौमनस्य से छः लोभ संबंधी सौमनस्य का अतिक्रमण करना चाहिए। तभी उसका प्रहाण होता है। उसी प्रकार छः निष्कामता संबंधी दौर्मनस्य से, छः निष्कामता संबंधी उपेक्षा से क्रमशः छः लोभ संबंधी दौर्मनस्य और छः लोभ संबंधी उपेक्षाओं का अतिक्रमण करना चाहिए। अरूपावचर ध्यानों में भी यही बात लागू है। चौथे रूपावचर ध्यान से तीसरे का, दूसरे का तीसरे से और पहले का दूसरे से अतिक्रमण करना चाहिए। इस तरह हम धर्मों में प्रगति कर सकते हैं और धर्म का क्रमिक विकास हो सकता है।

विभङ्ग का अर्थ ही विशेष रूप से भंग करना या टुकड़ा करना है। भगवान बुद्ध ने अपने धर्म की पुंखानुपुंखी व्याख्या की है और यह बताया है कि सभी धर्म प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं और अनित्य हैं। सभी संस्कार अनित्य हैं। प्रज्ञा से देखने पर यही वास्तविकता दिखाई देती है। इसीलिए बौद्ध दर्शन को विभज्जवाद भी कहते हैं। इस सुत्त में तीन प्रकार के स्मृति प्रस्थानों की चर्चा है। श्रावकों को धर्म उपदेश करने के बाद भी यदि वे धर्म सुनना नहीं चाहते, अपने चित्त को उसमें नहीं लगाते तो भी तथागत असंतुष्ट नहीं होते ! स्मृति सम्प्रजन्य के साथ अनासक्त हो विहार करते हैं।

1. वही, 276
2. वही, 280
3. वही, 287
4. वही, 297

यह प्रथम स्मृति प्रस्थान है जिसे सेवन करते आर्य शास्तागण का अनुसरण कर सकता है। दूसरी स्थिति तब आती है जब शास्ता के उपदेश को कुछ श्रावक सुनते हैं और कुछ नहीं सुनते हैं। ऐसी स्थिति में भी तथागत न तो असंतोष का अनुभव करते हैं और न संतोष का। संतोष, असंतोष दोनों से ऊपर उठकर उपेक्षा भाव से वे स्मृति सम्प्रजन्य के साथ विहार करते हैं। यह द्वितीय स्मृति प्रस्थान कहा जाता है। तीसरी स्थिति में श्रावक बुद्ध द्वारा उपदिष्ट धर्म को सुनना चाहते हैं उसका अतिक्रमण नहीं करते। यहाँ तथागत संतुष्ट अवश्य होते हैं, किन्तु स्मृति और सम्प्रजन्य के साथ अनासक्त हो विहार करते हैं। यह तीसरा स्मृति प्रस्थान है। इस सुत्त में एक और महत्वपूर्ण बात पर प्रकाश डाला गया है जिसे एक उपमा के सहारे समझाया गया है। हस्ति दम्यक महावत द्वारा सिखाया गया हाथी एक ही दिशा में जा सकता है। अश्व दम्यक द्वारा सिखाया गया घोड़ा किसी एक ही दिशा में दौड़ता है। गो-दम्यक का सिखाया बैल भी एक ही दिशा में दौड़ सकता है लेकिन अनुपम पुरुष दम्य सारथि भगवान बुद्ध द्वारा सिखाया गया पुरुष आठों दिशाओं में दौड़ लगा सकता है। वह रूपी-रूपों को देखता है, यह प्रथम दिशा है, भीतर अरूप संज्ञी बाहर रूपों को देखता हैं यह दूसरी दिशा है, शुभ से ही अधिमुक्त होता है यह तीसरी दिशा है। रूप संज्ञा का सर्वथा अतिक्रमण कर प्रतिघ संज्ञा को दूर कर नाना प्रकार की संज्ञाओं को कम न करते हुए आकाश अनंत है यह देखता है। यह चौथी दिशा है, फिर विज्ञानाञ्चायतन् को प्राप्त कर विहरता है यह पांचवी दिशा है। पुन: आकिञ्चञ्ञायतन को प्राप्त करता है, नेवसञ्ञानासञ्ञायतन को प्राप्त करता है और इसका भी सर्वथा अतिक्रमण कर संज्ञा वेदयित निरोध को प्राप्त करता है। यह आठवीं दिशा है।

उद्देसविभङ्ग सुत्त[1] में उपदेश दिया गया है कि कैसे विज्ञान को बाहर अविक्षिप्त अविस्तृत कहा जाता है। जब चक्षु से रूप को देखकर भिक्षु रूप से निमित्त का अनुस्मरण करने वाला नहीं होता, रूप निमित्त के स्वाद में ग्रथित नहीं होता है यही विज्ञान का अविक्षिप्त होना है। जब भिक्षु काम से विरहित होकर प्रथम रूपावचर ध्यान को प्राप्त करता है तो उसका विज्ञान विवेकज प्रीति सुख को अनुस्मरण करने वाला विवेकज प्रीति सुख के आस्वाद से ग्रथित होता है। इसे ही अपने भीतर स्थित कहा जाता है। इसी तरह और ध्यानों के बारें में भी समझाना चाहिए।

अरण विभङ्ग सुत्त[2] में दो अतियों के मध्य मध्यम प्रतिपदा क्या है, इसके बारे में बताया गया है।

---

1. वही, 305
2. वही, 313

धातु विभङ्ग सुत्त[1] मज्झिम निकाय का एक अति महत्वपूर्ण सुत्त है जिसमें भगवान बुद्ध ने आयुष्मान पुक्कुसाति को उपदेश दिया है। भगवान बुद्ध ने यहाँ पुरुष को छः धातुओं, छः स्पर्शायतनों, अट्ठारह मनोपविचारों तथा चार अधिष्ठानों वाला कहा है जहाँ स्थित इसके मान और उत्सद प्रवृत्त नहीं होते। मान और उत्सद के प्रवृत न होने पर वह पुरुष शान्त मुनि कहा जाता है। मनुष्य को चाहिए कि वह प्रज्ञा विकसित कर प्रमाद न करे, सत्य की रक्षा करे, त्याग को बढ़ावे और उपशम का ही अभ्यास करे। यही धातुविभङ्ग का उद्देश्य है।

इस सुत्त में पूरा विभज्जवाद का रूप समाया हुआ है। जब हम इस बात को अच्छी तरह समझ लेते हैं कि यह पुरुष छः धातुओं वाला है तो यहाँ नित्य आत्मा के होने की संभावना ही नहीं रहती। ऐसा न होने पर मनुष्य में चिपकाव नहीं रहता है और तृष्णा शेष हो जाती है। मनुष्य या पुद्गल छः धातुएँ हैं– पृथ्वी धातु, आपो धातु, तेजो धातु, वायो धातु, आकाश धातु और विज्ञान धातु। पृथ्वी धातु दो प्रकार की है–आध्यात्मिक और बाह्य। शरीर के भीतर जो कुछ भी कर्कश और खर्खर है जैसे कि केश, लोम आदि वह आध्यात्मिक पृथ्वी धातु है और जो कुछ बाह्य पृथ्वी धातु है, वह भी भली प्रकार प्रज्ञा से देखने पर अनित्य है। इसलिए जो अनित्य है, वह 'न मेरा है, न वह मैं हूँ और न वह मेरी आत्मा है।' इस प्रकार यथार्थ रूप में पृथ्वी धातु को देखने से पृथ्वी धातु से निर्वेद प्राप्त करता है। इसी प्रकार आपो धातु, वायो धातु, तेजो धातु, आकाश धातु और विज्ञान धातु में भी वह निर्वेद प्राप्त करता है। छः धातुओं को प्रतीत्युसमुत्पन्न जानकर तथा इन्हें अनित्य समझकर निर्वेद को प्राप्त करता है जो सच्चा ज्ञान है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार दो काष्ठों की रगड़ से आग उत्पन्न होती है उसी प्रकार हमारे शरीर में भी धातुओं की उत्पत्ति होती है और धातुओं से और भी चीजों की उत्पत्ति होती है। वेदनाएँ भी उत्पन्न होती हैं लेकिन कोई भी वेदना सुखात्मक, दुःखात्मक या उपेक्षात्मक क्यों न हो तीनों ही अनित्य हैं। इनको प्रज्ञा से समझकर मनुष्य शांत हो जाता है, तृष्णा विरहित हो जाता है और तृष्णा विरहित होने से निर्वाण का अधिगम करता है। जिस प्रकार तेल और बत्ती के सहारे तेल प्रदीप जलता है और जब तेल और बत्ती समाप्त हो जाती है तब वह निराश हो बुझ जाता है, उसी प्रकार भिक्षु तृष्णा समाप्त कर प्रज्ञा अधिष्ठान से संयुक्त होता है और निर्वाण को प्राप्त कर परम सत्य अधिष्ठान से युक्त होता है। अज्ञानता के कारण उसमें अभिध्या उत्पन्न होती है और ज्ञान की प्राप्ति होने से इसका

1. वही, 322

क्षय होता है, उपशम होता है। इसलिए प्रज्ञा से प्रमाद न करे, सत्य की रक्षा करे, त्याग को बढ़ावे, उपशम का ही अभ्यास करे इसलिए ऐसा कहा गया है।

मान और उत्सद का क्या तात्पर्य है? यह मैं हूँ, मैं होऊँगा, मैं नही होऊँगा, अरूपी होऊँगा, संज्ञी होऊँगा, असंज्ञी होऊँगा, नैवसंज्ञी नासंज्ञी होऊँगा, ये सभी मान हैं। इन्हें उत्सद भी कहा जाता है। मान को भगवान बुद्ध ने रोग, गंड, शल्य आदि कहा है। जब इस प्रकार के मानों को भिक्षु अतिक्रमण कर जाता है, तो वह शांत हो जाता है। शान्त मुनि जन्म, जरा, मरण को प्राप्त नहीं होता। न कुपित होता है और न स्पृहा करता है। इस तरह भगवान बुद्ध ने इस सुत्त में संक्षेप में अनात्मवाद का तथा अनित्यवाद और दु:खवाद का उपदेश दिया है। वस्तुतः धातु **विभङ्ग सुत्त** में भगवान बुद्ध ने गागर में सागर भर दिया है।

सच्च विभङ्ग सुत्त[1] में चारों सत्यों की पुंखानुपुंखी व्याख्या की गई है।

नन्दकोवाद सुत्त[2] में अनात्मवाद और बोध्यंगों की चर्चा है।

चूलराहुलोवाद सुत्त में और **छ छक्कक सुत्त** में अनात्मवाद के बारे में बताया गया है। साथ ही किस प्रकार इन्द्रिय और विषय के समागम होने से विज्ञान की उत्पत्ति होती है, यह **छ छक्कक सुत्त** में बताया गया है तथा यहां सत्कायवाद का खंडन किया गया है।

महासळायतन सुत्त[3] में दु:ख की जननी तृष्णा की व्याख्या है।

पिण्डपात पारिसुद्धि सुत्त[4] में चार स्मृति प्रस्थानों की भावना करने का उपदेश है।

इन्द्रिय भावना सुत्त[5] में कैसे इन्द्रियों पर संयम रखा जा सकता है इसका उपाय बताया गया हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि मज्झिम निकाय के प्रायः सभी सुत्तों में न्यूनाधिक मात्रा में अभिधम्म के तत्त्व बिखरे पड़े है।

---

1. वही, 333
2. वही, 361
3. वही, 389
4. वही, 398
5. वही, 404

पञ्चम अध्याय

संयुक्त निकाय के सुत्तों में भी दीघ और मज्झिम निकाय के सुत्तों की तरह ही अभिधम्म के तत्व हैं। इसमें निदान वर्ग खन्ध वर्ग, षडायतन वर्ग और जरा वर्ग में क्रमशः प्रतीत्यसमुत्पाद की बारह कड़ियों का, पञ्च स्कन्धों का, बारह आयतनों का तथा बौद्ध धर्म दर्शन और साधना के महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का उल्लेख पाया जाता है। ये वर्ग निश्चित रूप से अभिधम्म के ही सिद्धान्तों का वर्णन करते हैं। वैसे प्रथम वर्ग सगाथ वर्ग में भी अनात्मवाद की चर्चा है। इस वर्ग के **ओघतरण सुत्त** में ओघ की व्याख्या है। ओघ की उत्पत्ति तो तृष्णा के कारण ही होती है। **जटा सुत्त** में विभिन्न प्रकार की तृष्णाओं से बनी जटाओं का उल्लेख है। **सर सुत्त** में परम पद निर्वाण का वर्णन है, कहा गया है कि जहाँ जल, पृथ्वी और वायु प्रतिष्ठित नहीं होती वहीं धारा रुक जाती है; वहीं भंवर चक्कर नहीं काटता, वहीं नाम और रूप दोनों निरुद्ध हो जाते हैं। **अरहन्त सुत्त** में व्यवहार सत्य और परमार्थ सत्य में भेद दिखाते हुए पृथक जन और अर्हत को परिभाषित किया गया है। पृथक जन 'मैं' का व्यवहार करता है और वह उसे यथार्थ में वैसा ही ग्रहण करता है किन्तु अविद्या के अंधकार से मुक्त अर्हत व्यवहार और परमार्थ में अन्तर समझकर व्यवहार को परमार्थ की तरह ग्रहण नहीं करता है। जिस व्यक्ति का मान प्रहीण हो गया है, गाँठ खुल गई है, ग्रन्थियाँ नष्ट हो चुकी हैं, वह पण्डित तृष्णातीत हो जाता है। 'मैं करता हूँ, मुझे कहते हैं', इस तरह की भाषा का प्रयोग वह लोगों की बोल-चाल के कारण ही व्यवहार मात्र के लिये करता है। लेकिन वह यह जानता है कि यहाँ न तो कोई 'मैं' है और न तो कोई 'मेरा' है। इस तरह यहाँ अनात्मवाद के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया गया है।

निदान वर्ग में कुल दो सौ छियानवे सुत्त हैं। इनका विषय संसार चक्र की व्याख्या करना है। यह व्याख्या प्रतीत्यसमुत्पादवाद के नाम से जानी जाती है, जो कारण-कार्य का सिद्धान्त है। यह बौद्ध दर्शन का सार है, हृदय है।

इस सिद्धान्त के अनुसार संसार चक्र को चलाने वाली तृष्णा है। मरते समय जिस तृष्णा को लेकर मनुष्य मरता है, उसी की प्रेरणा से वह अपने कर्मानुसार जन्म ग्रहण करता है। तृष्णा का कारण अविद्या है। संसार की सभी चीजें यथार्थ में अनित्य,

दु:ख और अनात्म हैं। अविद्या में लिप्त रहने के कारण मनुष्य इन चीजों को नित्य सुखपूर्ण और सारवान समझकर उनकी अभिलाषा करता है और पाने के लिए पीछे पड़ा रहता है। अविद्या अनेक तृष्णाओं को जन्म देती है जिनको प्राप्त करने के लिए मनुष्य तरह-तरह के सुकर्म और कुकर्म करता है। इन कर्मों के संस्कार उसके चित्त में एकत्र होते रहते हैं। पूरे जीवन में जिस तरह के संस्कार अधिक मात्रा में एकत्र हुए रहते हैं वे ही मनुष्य की अगली योनि निश्चित करते हैं। माता के गर्भ में जब बालक का पहला चित्त क्षण उत्पन्न होता है उसे विज्ञान कहते हैं। विज्ञान के उत्पन्न होने से छः ज्ञानेन्द्रियों का विकास होता है। बाद में जब वह माता के गर्भ से बाहर निकलता है तब उसकी इन्द्रियों का सम्पर्क अपने-अपने विषयों से होता है जैसे चक्षु का रूप से श्रोत्र का शब्द से, घ्राण का गन्ध से, जिह्वा का रस से, काय का स्प्रष्टव्य से और मन का धर्म से। सम्पर्क के पश्चात् उसे सुख, दु:ख या उपेक्षा वेदना होती है। वेदना से विषय के प्रति तृष्णा और जब तृष्णा बलवती हो जाती है, तब यह उपादान हो जाती है। उपादान के कारण वह तरह-तरह के कर्म करने में प्रवृत्त होता है और इस तरह भव-चक्र चलता रहता है।

जब मनुष्य धर्म जानकर शुद्ध आचरण पर प्रतिष्ठित हो, चित्त की एकाग्रता लाभ कर सत्ता मात्र के यथार्थ स्वरूप-अनित्य, दु:ख और अनात्म का साक्षात्कार कर लेता है, तब उसकी अविद्या नष्ट हो जाती है। यथार्थ के उदय से उसे संसार के विषयों के प्रति तृष्णा नहीं होती और वह उनके पीछे नहीं लगता। इस तरह वह जो भी कर्म करता है, वह तृष्णा रहित होने के कारण संस्कार के रूप में संचित नहीं होता। कर्म-संस्कार के न होने से उसका चित्त प्रवाह निरुद्ध हो जाता है, यही निर्वाण की अवस्था है। प्रतीत्यसमुत्पाद द्वादश निदानों द्वारा इसी दार्शनिक बात को व्याख्यायित करता है। इन बारह निदानों का सिलसिला इस प्रकार व्यक्त किया जाता है।-"अविद्या के होने से संस्कार होता है; संस्कार के होने से विज्ञान होता है; विज्ञान के होने से नाम-रूप होते हैं; नाम-रूप के होने से षड़ायतन, षड़ायतन के होने से स्पर्श होता है; स्पर्श के होने से वेदना होती है; वेदना के होने से तृष्णा होती है; तृष्णा के होने से उपादान होता है; उपादान के होने से भव होता है; भव के होने से जन्म होता है; जन्म के होने से रोग, बुढ़ापा, मृत्यु, शोक, रोना और खिन्नता होती है। इस तरह सारे दु:ख पुञ्ज का उदय होता है। इस सिलसिले को अनुलोम प्रतीत्य समुत्पाद कहते हैं। और प्रतिलोम प्रतीत्यसमुत्पाद का रूप इस प्रकार है-'अविद्या के रुक जाने से संस्कार भी रुक जाता है; संस्कारों के रुक जाने से षड़ायतन रुक जाता है; षड़ायतन के रुक जाने से स्पर्श रुक जाता है; स्पर्श के रुक जाने से वेदना रुक जाती है; वेदना के रुक जाने

से तृष्णा रुक जाती है; तृष्णा के रुक जाने से उपादान रुक जाता है, उपादान के रुक जाने से भव रुक जाता है; भव के रुक जाने से जन्म रुक जाता है; जन्म के रुक जाने से बुढ़ापा, रोग, दुःख आदि सभी रुक जाते हैं। यही निर्वाण की अवस्था है।

देवता संयुत्त के अट्ठकवग्ग में दस सुत्त हैं। इस वर्ग के अधिकांश सुत्तों में लोक संबंधी प्रश्न हैं जैसे लोक किससे नियंत्रित होता है या किस बंधन में बंधा है। यह किससे सताया जा रहा है।

यह किसमें प्रतिष्ठित है।[1] इसके उत्तर में कहा गया है कि **चित्तेन नीयति लोको** अर्थात लोक चित्त से नियंत्रित होता है। चित्त ही लोक का बंधन है। और **चित्तेन परिकस्सति** अर्थात चित्त ही इसका बंधन है। फिर कहा गया है कि **तण्हाय नीयति** लोको अर्थात्त तृष्णा से ही चित्त नियंत्रित है और **तण्हाय परिकस्सति** अर्थात तृष्णा अर्थात् स्वाद लेना ही इसका बंधन है।

संयोजन सुत्त में यह कहा गया है कि **नन्दि संयोजनो लोको** अर्थात तृष्णा ही लोक का बंधन है। हम जो वस्तुओं के आस्वाद में लगे रहते हैं यही हमारे बंधन का कारण है और **तण्हाय विप्पहानेन** अर्थात तृष्णा के प्रहाण से निर्वाण की प्राप्ति होती है।

इस तरह हम देखते हैं कि इस वर्ग के सभी सुत्तों में संसार के उत्पन्न होने के बारे में, संसार किससे नियंत्रित होता है इसके बारे में, संसार का बंधन क्या है, यह किससे सताया जा रहा है, यह किसमें प्रतिष्ठित है आदि प्रश्नों के बारे में कहा गया है। मृत्यु द्वारा यह संसार सताया जा रहा है। यह दुःख में प्रतिष्ठित है। इसलिए दुःख का मूल कारण तृष्णा है। **वेदना पच्चया तण्हा** यह जो प्रतीत्यसमुत्पाद की एक कड़ी है उसकी व्याख्या इस वर्ग में की गई है। इस वर्ग में अंतिम लोक सुत्त[2] में संक्षेप में यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि छः इन्द्रियों की उपस्थिति से ही यह लोक उत्पन्न होता है, छः में ही साथ रहता है, छः को ही लेकर यह होता है तथा छः के कारण ही यह दुःखी होता है। ये छः आध्यात्मिक आयतन हैं चक्षु, श्रोत घ्राण, जिह्वा, काय और मन।

---

1. केनस्सु नीयति लोको, केनस्सु परिकस्सति।
   किस्सस्सु एक धम्मस्स, सब्बेव वसमन्वगूति।।
   सं. नि., 1. 37
2. "छसु लोको समुत्पन्नो, छसु कुब्बति सन्थवं।
   छन्नमेव उपादाय, छसु लोको विहञ्ञती" ति।।
   वही, 38

इसी संयुत्त के छेत्वा वग्ग में उन छः छिद्रों की चर्चा की गई है जहाँ चित्त स्थिर नहीं होता। ये हैं आलस्य, प्रमाद, अनुत्साह, असंयम, निद्रा और तन्द्रा। आध्यात्मिक जीवन जीने के लिये इन सबों का अभाव आवश्यक है। इन सबों पर विजय पाने से ही आध्यात्मिक उन्नति संभव है।

इसी वर्ग में श्रद्धा के महत्व पर प्रकाश डाला गया है। श्रद्धा एक बल है, एक इन्द्रिय है, और चैतसिक है। इसके होने से आध्यात्मिक जीवन जीना आसान हो जाता है। इसलिए श्रद्धा को पुरुष का श्रेष्ठ धन कहा गया है।

सद्धीध वित्तं पुरिसस्स सेट्ठं, धम्मो सुचिण्णो सुखमावहति।

कौन सा धर्म सुख दे सकता है? इसके उत्तर में कहा गया है कि जिस धर्म का अच्छी तरह अभ्यास किया गया हो वही धर्म सुख दे सकता है **धम्मो सुचिण्णो सुखमावहति।**

देवपुत्त संयुत्त के अनाथपिण्डिक वग्ग के **सुब्रह्म सुत्त** में भगवान बुद्ध ने स्पष्ट रूप से कहा है कि बोध्यंग का अभ्यास वह उपाय है जिससे इन्द्रिय संवर किया जा सकता है, संसार से विरक्त हुआ जा सकता है और घबराहट से बचा जा सकता है। यद्यपि यहाँ बोध्यंगों की गणना तो नहीं की गई है लेकिन संकेत अवश्य दिया गया है। इसकी विशद चर्चा अभिधम्म पिटक में की गई है। इसी संयुत्त के नानातित्थिय वग्ग के **रोहितस्स सुत्त** में यह बताया गया है कि बराबर चलते रहने से भी लोक का अन्त नहीं होता। वस्तुतः इस साढ़े तीन हाथ की काया में ही लोक, लोक की उत्पत्ति, इसका अवसान और इसके अवसान का मार्ग-ये सभी उपस्थित रहते हैं।

कोसल संयुत्त के **पुरुस सुत्त** में कहा गया है कि लोभ, द्वेष और मोह ये ऐसे धर्म हैं जो लोग के दुःख और अहित के लिए हैं।

लोभो दोसो च मोहो च, पुरिसं पापचेतसं।
हिंसन्ति अत्तसभ्भूता, तचसारं व सम्फलन्ति।

जैसे केले में फल उत्पन्न होने से केले की मृत्यु हो जाती है वैसे ही लोभ, द्वेष और मोह आ जाने से मनुष्य की हानि होती है। **अत्तरक्खित सुत्त** में बताया गया है कि मनुष्य सुष्ठु काय कर्म, वची कर्म और मनोकर्म करने से अपना कल्याण करता है और दुष्ट कर्म करने से हानि। यह बात अभिधम्म में शील के अन्तर्गत आती है।

पुग्गल सुत्त में चार प्रकार के पुद्गलों की चर्चा है।

1. **तमोतम परायनो पुग्गलो** अर्थात् वह पुद्गल जो अंधकार से अंधकार की

ओर जाता है अर्थात पूर्व जन्म के बुरे कर्मों के फलस्वरूप जिसका जन्म इस संसार में हुआ है और जो बुरा ही कर्म करने में प्रवृत्त है।

2. **तमोजोति परायनो पुग्गलो** अर्थात् अंधकार से प्रकाश की ओर जाने वाला व्यक्ति अर्थात जिसका पूर्व का कर्म अच्छा नहीं है किन्तु इस जीवन में वह सुकर्म कर रहा है।

3. **जोतितम परायनो पुग्गलो** अर्थात प्रकाश से अंधकार की ओर जाने वाला व्यक्ति अर्थात जिसका पूर्व जन्म का कर्म अच्छा है किन्तु इस जन्म में वह खराब कर्म कर रहा है।

4. और चौथा **जोति जोति परायनो पुग्गलो** अर्थात जिसने पूर्व में अच्छा कर्म किया है और जो इस जन्म में भी अच्छा कर्म कर रहा है। इन चार प्रकार के पुद्गलों की चर्चा अभिधम्म की पुस्तक **पुग्गलपञ्ञति** में हुई है।[1]

मार संयुत्त के छः **फस्सायतन सुत्त** में मन को लुभाने वाले रूप शब्द, गन्ध, रस और स्प्रष्टव्य एवं धर्म के प्रति जो इच्छा या तृष्णा रहती है वही वस्तुतः बंधन का कारण है। इस बात को इसमें दर्शाया गया है।

"रूपा सद्दा रसा गन्धा, फस्सा धम्मा च केवला"
एतं लोकामिसं धोरं, एत्थ लोको विमुच्छितो।।'[2]

ब्राह्मण संयुत्त के **जटा सुत्त** में तृष्णा रूपी जटा की चर्चा तथा इस जटा को काटने के लिए शील, समाधि, प्रज्ञा से समन्वित अष्टांगिक मार्ग पर चलने की बात बताई गई है। यहाँ संक्षेप में सारा अभिधम्म समाया हुआ है। तृष्णा रूपी जटा को काटने के लिए किस तरह शील पर प्रतिष्ठित होना पड़ता है तथा किस तरह प्रज्ञा रूपी तलवार से तृष्णा को काटा जाता है यह बात संक्षेप में कही गई है।

निदान संयुत्त में जैसा ऊपर कहा गया है प्रतीत्यसमुत्पाद का विस्तार से वर्णन किया गया है। प्रतीत्यसमुत्पाद में बारह कड़ियाँ जैसे **अविज्जा पच्चया सङ्खारा** आदि का वर्णन यहाँ है तथा यह भी दिखाया गया है कि इनसे दुःख की उत्पत्ति कैसे होती है।

निदान संयुत्त के कई सुत्तों में विभिन्न प्रकार से प्रतीत्यसमुत्पाद को बताया गया है। यहाँ बारह कड़ियों की व्याख्या तो है ही, साथ ही साथ एक-एक कड़ी की विशद व्याख्या भी है। जैसे भव तीन प्रकार के कहे गये हैं, काम भव, रूप भव और अरूप

---

1. सं. नि., 1.111
2. वही, 135

भव। उपादान चार प्रकार के कहे गये हैं कामुपादान दिट्ठुपादान शीलवत्तुपादान और अत्तवादुपादान अर्थात सभी उपादानों को चार कोटियों में रखा जा सकता है। प्रथम कोटि कामुपादान की है जिसमें सभी प्रकार के कामों या आसक्तियों की चर्चा है। दूसरी कोटि में दिट्ठुपादान अर्थात 62 प्रकार की मिथ्यादृष्टियों में किसी न किसी दृष्टि के प्रति लगाव। तीसरी कोटि शीलव्रत उपादान अर्थात किसी न किसी शील और व्रत के प्रति रुझान और यह विश्वास कि ऐसा व्रत रखने से या इस तरह शील का पालन करने से मेरी शुद्धि होगी और अत्तवादुपादान का अर्थ है शाश्वत आत्मा में विश्वास करना। उपादान की उत्पत्ति तृष्णा से बताई गई है। और तृष्णा छः प्रकार की कही गई है जैसे रूप तृष्णा, शब्द तृष्णा, गन्धतृष्णा, रसतृष्णा, स्प्रष्टव्य तृष्णा और धर्म तृष्णा। उसी तरह छः प्रकार की वेदना होती है, छः प्रकार का स्पर्श, छः प्रकार का आयतन, छः प्रकार का विज्ञान होता है। सङ्खार तीन तरह के कहे गये हैं–काय संङ्खार, वची संङ्खार और चित्त सङ्खार। ये क्रमश शरीर वाणी और मन से सम्बन्धित हैं।

इसी संयुत्त के **आहार सुत्त** में चार प्रकार के आहार कहे गये है। कबलींकार आहार, फस्सो, मनोसंचेतना, विञ्ञाण और यह भी बताया गया कि कैसे जब इन आहारों से राग अनुराग और तृष्णा जागने लगती है तो विज्ञान ठहरने और बढ़ने लगता है और इससे नामरूप और नामरूप से संस्कार इत्यादि की उत्पत्ति होती है और भवचक्र चलने लगता है। भवचक्र को रोकने का एकमात्र उपाय यह है कि तृष्णा को हम आहार न दें। निदान संयुत्त के **उपनिस्स सुत्त** में दर्शाया गया है कि सङ्खार कैसे अविद्या पर निर्भर करता है और अविद्या किस तरह सङ्खार का उपनिश्रय बनती है। इसी तरह कैसे सङ्खार विज्ञान का उपनिश्रय, विज्ञान नामरूप का, नामरूप षड़ायतन का तथा जन्म दु:ख का उपनिश्रय बनता है और फिर दु:ख कैसे श्रद्धा का उपनिश्रय बनता है और श्रद्धा प्रमोद का, प्रमोद प्रीति का, प्रीति प्रश्रब्धि का प्रश्रब्धि सुख का और सुख समाधि का तथा समाधि यथाभूत ज्ञान दर्शन का, यथाभूत ज्ञान दर्शन निर्वेंद का और निर्वेद विराग का, विराग विमुक्ति का और विमुक्ति क्षयज्ञान का उपनिश्रय होता है। इस तरह ये आपस में जुड़े हुए हैं और एक के कारण दूसरा उत्पन्न होता है और फिर उसके कारण तीसरे की उत्पत्ति होती है।

निदान संयुत्त में प्रतीत्यसमुत्पाद के माध्यम से यह भी दिखाया गया है कि कोई ऐसी शाश्वत आत्मा नहीं है जो दु:ख भोगती है और निर्वाण प्राप्त करती है। वस्तुतः होता यह है कि धर्म प्रवर्त्तित होता रहता है। कारण-कार्य का सिलसिला चलता रहता है। और इसी तरह संसार-चक्र चलता रहता है। आयुष्मान मौलिय फग्गुन ने जब भगवान ने पूछा कि विज्ञान का आहार कौन करता है, कौन स्पर्श करता है, कौन

वेदना का अनुभव करता है, कौन तृष्णा करता है, कौन उपादान करता है तो भगवान ने इस प्रश्नों को असंगत बताया। कहा कि इन प्रश्नों के बदले संगत प्रश्न यह होगा कि हम यह जानें कि विज्ञान आहार से क्या होता है, क्या होने से स्पर्श होता है। किसके होने से वेदना होती है, किसके होने से तृष्णा होती है। इसलिए भगवान ने ऐसे प्रश्नों को जैसे:-

को नु खो, भन्ते, विञ्ञाणाहारं आहारेतीति, को नु खो भन्ते, कुसतीति को नु खो, भन्ते, वेदयती ति। को नु खो, भन्ते तसती ति, को नु खो भन्ते, उपादियती ति।[1]

ये सारे प्रश्न संगत प्रश्न नहीं कहे जायेंगे। बल्कि ये सारे निम्नलिखित प्रश्न

किस्स नु खो, भन्ते, विञ्ञाणाहारो ति? किं पच्चया नु खो, भन्ते, फस्सोति? किं पच्चया नु खो, भन्ते, वेदना ति? किं पच्चया नु खो, भन्ते, तण्हाति? किं पच्चया नु खो भन्ते, उपादानं ति?[2]

संगत प्रश्न हैं। प्रतीत्यसमुत्पाद इस नियम को अच्छी तरह दर्शाता है कि **इमस्मिं सति इदं होति या इमस्मिं असति इदं न होति**। प्रतीत्यसमुत्पाद के सम्यक ज्ञान से दु:खी मनुष्य अपने दु:ख को बढ़ने नहीं देगा और दु:ख से छुटकारा पाकर विमुक्त हो जायगा। इसको जानने से ही सम्यक दृष्टि होती है। इसकी कड़ियों को अच्छी तरह जानने से ही कोई श्रमण या ब्राह्मण कहलाने योग्य होता है। प्रतीत्यसमुत्पाद का नियम शाश्वत है।

धातु संयुत्त में धातुओं का नानात्व बतलाया गया है जैसे चक्षु धातु, रूप धातु और चक्षु विज्ञान धातु। इसी तरह श्रोत धातु, शब्द धातु और श्रोत विज्ञान धातु। इस प्रकार 18 धातुओं की चर्चा की गई है। कैसे यह धातु स्पर्श नानात्व आदि का कारण बनती है इसे भी इस संयुत्त में बताया गया है।

इसी संयुत्त के **समण ब्राह्मण सुत्त** में भगवान ने यह भी बताया है कि जो श्रमण या ब्राह्मण प्रतीत्यसमुत्पाद की बारह कड़ियों को, उनके समुदय को, उनके निरोध को तथा उनका निरोध कराने वाले मार्ग को नहीं जानते, वे श्रमण या ब्राह्मण कहलाने योग्य नहीं हैं।[3] और चूंकि वे प्रतीत्यसमुत्पाद के नियम को ठीक से, गहराई से नहीं जानते इसलिए वे इस जन्म में स्वयं अभिज्ञा से श्रामण्य अथवा ब्राह्मण्य का

---

1. सं. नि., 1.13
2. सं. नि. 1.14
3. सं. नि., 1.15

साक्षात्कार नहीं कर सकते। स्पष्ट है कि यहाँ भगवान बुद्ध ने प्रतीत्यसमुत्पाद की महत्ता के बारे में कहा है। दीघ निकाय के **महानिदान सुत्त** में उन्होनें कहा है कि **'यो पटिच्चसमुप्पादं जानाति सो धम्मं जानााति और यो धम्मं जानाति सो पटिच्चसमुप्पादं जानाति।** कहने का तात्पर्य यह है कि कार्य कारण के नियम को अच्छी तरह जानना ही धर्म है।

कच्चानगोत्त सुत्त में भगवान ने आयुष्मान कच्चान को सम्यक दृष्टि के बारे में समझाया है। प्रतीत्यसमुत्पाद को ठीक से जानना ही सम्यक दृष्टि है। **सम्मादिट्ठि सुत्त** में कहा है कि **यो पटिच्चसमुप्पादं जानाति** वही सम्यक दृष्टिसंपन्न होता है। उन्होंने शाश्वतवाद और उच्छेदवाद की दोनों अतियों को छोड़कर मध्यम मार्ग अपनाने की बात कही।

अचेलकस्सपसुत्त[1] और **तिम्बरुक सुत्त**[2] में भगवान ने दुःख तथा सुख को न तो स्वयंकृत कहा, न परकृत, बल्कि इन दोनों को प्रतीत्यसमुत्पन्न बताया और इस तरह प्रतीत्यसमुत्पाद की शाश्वतता बतायी। यह नियम शाश्वत है। यह बराबर काम करता ही रहता है। कोई बुद्ध उत्पन्न होते हैं तो इस नियम को अपनी प्रज्ञा से जानकर दूसरे को समझाते हैं।

दस बल वग्ग के **दसबल सुत्त**[3] में प्रतीत्यसमुत्पाद में निहित चार नियमों की व्याख्या करते हैं। इति **इमस्मिं सति इदं होति** अर्थात इसके होने से यह होता है। **इमस्सुप्पादा इदं उप्पज्जति** अर्थात् इसके उत्पन्न होने से यह उत्पन्न होता है और इनके ठीक विपरीत **इमस्मिं असति इदं न होति** अर्थात् इसके नहीं होने से यह नहीं होता और **इमस्स निरोधा इदं निरुज्झति** अर्थात् इसके निरोध होने से यह निरुद्ध हो जाता है। प्रतीत्यसमुत्पाद संक्षेप में यही है।

अन्यतैर्थिक परिव्राजकों ने जब आयुष्मान सारिपुत्त से कहा कि कुछ श्रमण ब्राह्मण जो कर्मवादी हैं दुःख को अपना किया बताते है, कुछ इसको दूसरे का किया बताते है और कुछ इसे स्वयंकृत और परकृत दोनों है ऐसा बताते हैं लेकिन सारिपुत्र ने बिल्कुल दृढ़तापूर्वक, विश्वास के साथ कहा कि भगवान ने दुःख को प्रतीत्यसमुत्पन्न बताया है। बिना कारण के दुःख की उत्पत्ति हो नहीं सकती। आयुष्मान भूमिज ने भी यही प्रश्न आयुष्मान सारिपुत्त से पूछा और सारिपुत्त ने वही उत्तर दिया। **पटिच्चसमुप्पादं खो, आवुसो दुक्खं वुत्तं भगवता।** भगवान ने दुःख को प्रतीत्यसमुत्पन्न ही बताया है।

---

1. सं. नि., 1.18
2. वही, 21
3. वही, 25

भगवान बुद्ध ने सारिपुत्त के इस व्याकरण को बिल्कुल सही बतलाया और कहा कि अविद्या के पूर्णतया निरोध से वह कर्म नहीं होता जिससे सुख-दुःख की उत्पत्ति हो सके।

प्रतीत्यसमुत्पाद के प्रत्ययों, उनके समुदय, उनके निरोध तथा निरोध प्राप्त करने का मार्ग जो आर्यश्रावक जानता है वही वस्तुतः दृष्टिसंपन्न, दर्शनसंपन्न सद्धर्म को प्राप्त, शैक्ष्य ज्ञान से युक्त, शैक्ष्य विद्या से युक्त, धर्म के श्रोत में आपन्न, बींधती हुई प्रज्ञा से सम्पन्न तथ अमृत के द्वार पार अवस्थित है। इसी वर्ग का **उपनिस सुत्त**[1] प्रतीत्यसमुत्पाद की व्याख्या के दृष्टि कोण से बहुत ही महत्वूपर्ण है। यहाँ भगवान ने कहा है कि''

जानतो अहं, भिक्खवे, पस्सतो आसवानं खयं वदामि नो अजानतो नो अपस्सतो। अर्थात मैं जानने वालों तथा देखने वालों के आश्रवों का क्षय बताता हूँ, यह रूप है, यह इसका समुदय है, यह इसका निरोध हो जाना है-यह इसे निरुद्ध करने का मार्ग है। आश्रवों के क्षय हो जाने पर जो इसका ज्ञान होता है वह भी सहेतुक है अर्थात् प्रतीत्यसमुत्पन्न है। इसी प्रकार विमुक्ति, वैराग्य, यथार्थ ज्ञान दर्शन समाधि सुख आदि को भी उपनिश्रय वाला बताया गया है, बिना उपनिश्रय का नहीं।

यं पिस्स तं भिक्खवे, खयस्मिं खयेञाणं तं पि सउपनिसं वदामि नो अनुपनिसं। क्षय का ज्ञान विमुक्ति विराग निर्वेद, यथाभूतज्ञान दर्शन, समाधि तथा सुख सभी प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं। सभी का कारण है, उपनिश्रय है।

दुतिय समण ब्राह्मण सुत्त[2] में भगवान ने स्पष्ट कहा है कि जो श्रमण या ब्राह्मण जरामरण को नहीं जानता, इसके उत्पन्न होने के कारण को, इसके निरोध करने के मार्ग को नहीं जानता वह जरामरण का अतिक्रमण कर लेगा-इसकी संभावना नहीं है।

अर्थात् यहाँ भी प्रतीत्यसमुत्पाद के नियम को अच्छी तरह जानना है। जो जाति, भव, उपादान, तृष्णा, वेदना, स्पर्श के कारणों को, निरोध होने के कारणों को, और निरोध की ओर ले जाने वाले मार्ग को नहीं जानता वह इन सबका समतिक्रमण नहीं कर सकता और जो ठीक इनके विपरीत जरामरण आदि को जानता है, इनके कारण को, इनके निरोध होने के मार्ग को जानता है वह जरामरण आदि का अतिक्रमण कर लेगा-इसकी पूरी संभावना है।

---

1. वही, 27
2. वही, 41

यहाँ भी हम देखते हैं कि प्रतीत्यसमुत्पाद के सभी निदानों को अच्छी तरह जानने से ही हम तृष्णा को दूर करने के मार्ग पर चलने के लिए प्रवृत्त हो सकते हैं और शुद्ध नैतिक जीवन, शील, समाधि और प्रज्ञा का जीवन जीने के लिये प्रेरित हो सकते हैं। सदाचार का जीवन जीने से सम्यक ज्ञान की प्राप्ति और सम्यक ज्ञान की प्राप्ति से सभी वस्तुओं का यथाभूत ज्ञान प्राप्त होगा और फिर प्रकाश के आ जाने पर अज्ञानांधकार जो तृष्णा पैदा करता है उसका पैदा होना ही बंद हो जायगा और मनुष्य ब्रह्मचर्य वास पूरा करेगा।

कलारखत्तिय वग्ग के **कलारसुत्त**[1] में भगवान के पूछने पर सारिपुत्त ने प्रतीत्य-समुत्पाद की ही व्याख्या की है। **'जाति पनावुसो' सारिपुत्त, किं निदाना, किं समुदया, किं जातिका, किं पभवाति।**[2]

अर्थात जाति का निदान, समुदय क्या है और यह किससे उत्पन्न होती है? सारिपुत्त ने कहा कि जाति का निदान और समुदय भव है तथा यह भव से उत्पन्न होती है।

''जाति खो, आवुसो, भवनिदाना, भवसमुदया भवजातिका, भवप्पभवा ति। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि समुदय के अर्थ में ही निदान, जातिक एवं प्रभव शब्दों का व्यवहार हुआ है। ये सभी शब्द समानार्थक हैं तथा इनके माध्यम से प्रतीत्यसमुत्पाद की ही व्याख्या की गई है। इसी तरह भव, उपादान, तृष्णा, वेदना आदि को भी प्रतीत्यसमुत्पन्न कहा गया है और यह कहा गया है कि **यं किञ्चि वेदयितं तं दुक्खस्मिं ति** अर्थात् जिसका हम अनुभव करते हैं वह दु:ख ही है।

इसी सुत्त में तीन प्रकार की वेदनाओं का उल्लेख है- सुखा वेदना, दुक्खा वेदना और अदुक्खमसुखा वेदना।

आणवत्थु सुत्त[3] में ज्ञान के चौवालीस विषय बतायें गये हैं। ये हैं-जरामरण, इसका समुदय, इसका निरोध तथा जरामरण निरोध गामिनी प्रतिपदा। इसी प्रकार जाति (जन्म) भव, उपादान, तृष्णा, वेदना, स्पर्श, छः इन्द्रियों, नाम रूप, विज्ञान तथा संस्कारों में से प्रत्येक के बारे में चार प्रकार का ज्ञान इस तरह कुल चौवालीस विषय ज्ञान के बताये गये हैं। यह भी प्रतीत्यसमुत्पाद की कड़ियों का गहराई में अध्ययन है जो अभिधम्म का मूल विषय है। जिस रात भगवान बुद्ध को ज्ञान की

1. वही, 45
2. वही, 46
3. वही, 50

प्राप्ति हुई वह ज्ञान यही तो था। प्रतीत्यसमुत्पाद की कड़ियों की संगोपांग व्याख्या अनुलोम तथा प्रतिलोम क्रम से जब उन्होंने की तो उनके सामने यह बिल्कुल स्पष्ट हो गया कि मनुष्य का दु:ख कैसे उपजता है और कैसे इस दु:ख से छुटकारा पाया जा सकता है।

इसी वग्ग के दुतिय **ञाणवत्थु सुत्त**[1] में ज्ञान के सतहत्तर विषयों के बारे में भी विस्तार से चर्चा है। प्रतीत्यसमुत्पाद की कड़ियों की और गहराई से व्याख्या की गई है। जन्म होने से ही जरामरण होता है, जन्म न होने से जरामरण नहीं होता। ऐसा अतीतकाल में होता था भविष्य में भी होगा। जिन धर्मों की स्थिति का ज्ञान है वे भी क्षय होने वाले, व्यय होने वाले, दूर होने वाले और निरुद्ध होने वाले हैं। इन सबों का ज्ञान होना अर्थात एक कड़ी का सात प्रकार से ज्ञान होना बताया गया है। जन्म होने से जरामरण होने का ज्ञान, जन्म न होने से जरामरण न होने का ज्ञान, अतीतकाल में जन्म न होने से जरामरण नही होता था इसका ज्ञान, भविष्य में जन्म होने से जरामरण होगा–इसका ज्ञान, भविष्य में जन्म न होने से जरामरण नहीं होगा– इसका ज्ञान तथा जिन धर्मों की स्थिति का ज्ञान है वे भी क्षय होने वाले हैं, व्यय होने वाले हैं दूर होने वाले तथा निरोध होने वाले हैं–इसका ज्ञान। इसी तरह प्रतीत्यसमुत्पाद की और दस कड़ियों में से प्रत्येक के बारे में सात प्रकार का ज्ञान। इस तरह कुल सतहत्तर प्रकार के ज्ञान के विषय दिखाये गये हैं। इतनी गहराई में प्रतीत्यसमुत्पाद की कड़ियों का अध्ययन उसके चार नियमों की जैसे–**इमस्मिं सति इदं होति, इमस्मिं असति इदं न होति, इमस्सुप्पादा इदं उप्पज्जति इमस्स निरोधा इदं निरुज्झति** का किया गया है। **नतुम्हसुत्त**[2] में भगवान ने भिक्षुओं को यह समझाया है कि यह काया न तो तुम्हारी है और न किसी अन्य की। पूर्व में किये गये कर्मों का यह फल है। तथा यह अभिसंस्कृत है और इसे चेतना तथा वेदना से संयुक्त जानना चाहिये। इस बात को भी उन्होंने प्रतीत्यसमुत्पाद के सहारे समझाया है।

पुनर्भव कैसे होता है–यह भी प्रतीत्यसमुत्पाद के सहारे **चेतनासुत्त, दुतिय चेतना सुत्त** तथा **ततिय चेतना सुत्त**[3] में दर्शाया गया है। मनुष्य के मन में जो विचार उठता है जो योजना बनती है वह विज्ञान की स्थिति का आलंबन होता है। विज्ञान के ही बने रहने से भविष्य में नये–नये भव प्राप्त होते हैं, फिर नाम–रूप होता है, नति

---

1. वही, 53
2. नायं, भिक्खवे, कायो तुम्हाकं नपि अञ्ञेसं। पुराणमिंद, भिक्खवे, कम्मं अभिसङ्खतं अभिसञ्चेतयितं वेदनियं दट्ठब्बं, वही, 57
3. वही, 58–60

होती है जिससे भविष्य में गति होती है। इसी के फलस्वरूप प्रतीत्यसमुत्पाद का सारा प्रपंच क्रियाशील हो उठता है और समस्त दु:खस्कंध की उत्पति होती है। ऐसा होने को रोका जाय तो सारे दु:खों का निरोध हो जाता है। इसके विपरीत यदि मन में कोई विचार नहीं उठता, कोई योजना न बनती है तो विज्ञान की स्थिति का आलम्बन नहीं होता। विज्ञान के न होने से भव की उत्पत्ति नहीं होती है, फिर नामरूप नहीं होता और प्रतीत्यसमुत्पाद का प्रपंच समाप्त हो जाता है। **निदानसुत्त**[1] में भी प्रतीत्यसमुत्पाद की ही व्याख्या की गई है।

दुक्ख वग्ग में यह दिखाया गया है कि दु:खों का अंत होता कैसे है। प्रतीत्यसमुत्पाद से यह स्पष्ट है कि दु:ख का कारण तृष्णा है और तृष्णा का निरोध होने से दु:ख का निरोध हो सकता है। इसलिए तृष्णा के न होने देने के लिए वेदना को न होने देना आवश्यक है चूंकि तृष्णा का निदान वेदना है, इसका समुदय वेदना है यह वेदना प्रभूत है यह वेदना जातिक है। प्रतीत्यसमुत्पाद के नियम के अनुसार वेदना के होने से ही तृष्णा होती है। **वेदना सति तण्हा होति** वेदना के न होने से तृष्णा नहीं होती है। **वेदनाय असति तण्हा न होति।** वेदना भी प्रतीत्यसमुत्पन्न है। इसका निदान स्पर्श है, समुदय स्पर्श है, स्पर्श से उत्पन्न होती है, स्पर्श प्रभूत है, स्पर्श के होने से वेदना होती है। **फस्सो सति वेदना होति** और स्पर्श के न होने से वेदना न होती है अर्थात **फस्से असति वेदना न होति**। इसी तरह षड़ायतन, नामरूप, विञ्ञाण, सङ्खार, अविज्जा तथा उपादान और भव की भी व्याख्या प्रतीत्यसमुत्पाद की दृष्टि से की गई है।

प्रतीत्यसमुत्पाद के नियमों को अच्छी तरह जान लेने पर मनुष्य निश्चय ही दु:ख से छुटकारा पा सकता है क्योंकि तृष्णा, वेदना, स्पर्श, षड़ायतन, नामरूप आदि की उत्पति कैसे होती है यह स्पष्ट हो जाता है। उत्पत्ति के कारण को जानकर यदि कोई उस कारण को हटा दे तो उत्पन्न वस्तु भी विनाश को प्राप्त कर जाती है। यह नियम बहुत ही गंभीर है। इसीलिए भगवान बुद्ध ने बार-बार कहा है कि जो प्रतीत्यसमुत्पाद को जानता है वह धर्म को जानता है और जो धर्म के सही स्वरूप को जानता है वह प्रतीत्यसमुत्पाद को अवश्य ही जानेगा। **यो पटिच्चसमुप्पादं जानाति सो धम्मं जानाति, यो धम्मं जानाति, सो पटिच्चसमुप्पादं जानाति**।

जहाँ तक जानने की बात है वहाँ प्रतीत्यसमुत्पाद के नियमों को जानने से दु:ख के कारण का पता तो अवश्य ही चल जाता है और यह भी पता चलता है कि कारण को यदि न होने दिया जाय तो दु:ख की उत्पत्ति भी नहीं होगी। लेकिन यह काम सिर्फ

---

1. वही, 81

जानने से नहीं होगा। इसके लिए अनुभूति के धरातल पर काम करना होगा अर्थात् हमारे मन में तृष्णा उत्पन्न न हो इसके लिए वेदना के धरातल पर हमें सावधान एवं सतर्क होना होगा। सुखद वेदना के प्रति न राग पैदा करें और न दु:खद वेदना के प्रति द्वेष। ऐसा होने पर हम प्रतिक्रिया नहीं करेंगे और दु:ख की उत्पत्ति को न होने देंगे।

यहीं आकर भगवान बुद्ध ने एक बहुत ही महत्वपूर्ण बात कही है और वह यह कि श्रुतमयी और चिन्तामयी प्रज्ञा से हम दु:ख का अंत नहीं कर सकते। दु:ख का अंत हम भावनामयी प्रज्ञा से ही कर सकते हैं और यहीं से आचरण की बात प्रारंभ होती है, अष्टांगिक मार्ग पर चलने की बात आती है, विपश्यना साधना करने की बात आती है। और यही वह क्षेत्र है जहाँ सूखे ज्ञान से असली अर्थ की प्राप्ति नहीं होती। इसके लिए भावनामयी प्रज्ञा का विकास करना आवश्यक माना गया है।

निदान संयुत्त के महावग्ग में दस सुत्त हैं। इन सुत्तों में भी प्रतीत्यसमुत्पाद की ही बात कई तरह से कही गई है। **अस्सुतवा सुत्त**[1] में यह दिखाया गया है कि जो श्रुतवान नहीं है वह कैसे इस चातुर्महाभौतिक शरीर को तथा अपने चित्त को ऐसा समझता है कि 'यह मेरा हैं, यह मैं हूँ और यह मेरी आत्मा है' और ऐसा समझ कर न तो वह निर्वेद को प्राप्त करता है और न विमुक्ति को। चूंकि वह देखता है कि यह काया एक वर्ष नहीं, तीन वर्ष नहीं, चार....पचास वर्ष नहीं बल्कि कभी-कभी सौ वर्ष से भी अधिक रह जाती है इसलिए इसे वह 'मैं' समझने लगता है। यह जो चित्त या मन है या विज्ञान है, यह तो क्षण-क्षण बदलता रहता है। एक चित्त का उत्पाद होता है और एक अन्य का निरोध। जो श्रुतवान आर्य श्रावक हैं और जो प्रतीत्यसमुत्पाद को ठीक से मन में धारण करते हैं वे इस बात को अच्छी तरह समझते हैं कि ऐसा होने पर ऐसा होता है। **इति इमस्मिं सति इदं होति,**-इसके होने पर इसकी उत्पत्ति होती है। इसके नहीं होने पर यह निरुद्ध होता है-**इमस्स निरोधा इदं निरुज्झति**।

ऐसा समझ लेने पर श्रुतवान आर्य श्रावक रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान में निर्वेद प्राप्त करता है, निर्वेद प्राप्त करने पर रागरहित होता है, रागरहित होकर विमुक्त होता है और विमुक्त होकर उसको यह ज्ञान होता है कि मैं विमुक्त हो गया। मेरा जन्म क्षीण हो गया, मैंने ब्रह्मचर्यवास पूरा किया। जो करना था कर लिया अब मेरा पुनर्जन्म नहीं होगा। **खीणा जाति, वुसितं ब्रह्मचरियं, कतं करणीयं, नापरं इत्थत्ताया ति।**[2]

1. वही, 83
2. वही, 84

दुतियअस्सुतवा सुत्त[1] में भगवान ने काय और मन में अन्तर दिखाते हुए यह कहा है कि जितनी जल्दी चित्त परिवर्तित होता है और चित्त परिवर्त्तित होता हुआ दिखाई पड़ता है उतनी जल्दी काया में परिवर्तन नहीं दिखाई पड़ता। इसलिए उन्होंने ऐसा कहा कि यदि अश्रुतवान पृथक जन इस चातुर्महाभौतिक काया को आत्मा समझे तो उसका यह सोचना चित्त को आत्मा समझने से श्रेष्ठ है क्योंकि शरीर तो कुछ न कुछ वर्षो तक स्थित रहता हुआ दिखाई पड़ता है, लेकिन चित्त बिल्कुल क्षणभंगुर है, वह क्षण-क्षण परिवर्तनशील है। अभी एक प्रकार का चित्त तो द्वितीय क्षण में दूसरे प्रकार का चित्त।

प्रतीत्यसमुत्पाद के नियम के आधार पर श्रुतवान आर्यश्रावक इस बात को अच्छी तरह समझ जाता है कि सुख वेदना, दुःख वेदना और अदुक्खमसुख वेदना स्पर्श के प्रत्यय से उत्पन्न होती है और स्पर्श के निरोध होने से तीनों प्रकार की वेदनायें निरुद्ध हो जाती हैं, इनका उपशम हो जाता है जैसे-दो लकड़ियों को रगड़ने से आग पैदा होती है। जब ये दोनों अलग-अलग हो जाती हैं तो आग पैदा नहीं हो सकती। इस प्रकार वह स्पर्श से निर्वेद प्राप्त करता है, वेदना से निर्वेद प्राप्त करता है, संज्ञा से निर्वेद प्राप्त करता है। निर्वेद प्राप्त रागरहित होता है, रागरहित होने से विमुक्त होता है और विमुक्त होकर विमुक्त हो गया ऐसा ज्ञान अच्छी तरह प्राप्त कर लेता है।

पुत्तमंसूपम सुत्त में चार प्रकार के आहारों के द्वारा प्रतीत्यसमुत्पाद की बात समझाई गई है।

अत्थिराग सुत्त में दर्शाया गया है कि आहार में राग, नन्दी या तृष्णा होती है तो विज्ञान वर्द्धित होता है। प्रतिष्ठित विज्ञान जब वर्द्धित होता है तब नामरूप का अवतरण होता है-नामरूप के अवतरण से संस्कारों की वृद्धि होती है और संस्कारों की वृद्धि से भविष्य में पुनर्भव होता है। जहाँ-जहाँ पुनर्भव होता है वहीं जाति जरामरण होता है और जहाँ जाति जरामरण है, वहीं शोक, परिदेव, दुःख दौर्मनस्य है।

इसी प्रकार स्पर्श, मनोसंचेतना और विज्ञान आहार के बारे में भी समझना चाहिए। भगवान बुद्ध ने प्रतीत्यसमुत्पाद के नियमों के आधार पर यह भली-भांति प्रमाणित कर दिया कि कैसे आहार से दुःख की उत्पत्ति होती है और यह भी बता दिया कि आहार में जब हमारा राग, हमारी नन्दी और तृष्णा नहीं रहती तब न तो

1. वही, 85

विज्ञान की उत्पत्ति हो सकती है, न नामरूप की, न संस्कार की, न पुनर्भव की, न जाति जरा मरण की और जहाँ जाति जरामरण नहीं है वहाँ शोक कैसा!

कबलीकारे चे, भिक्खवे, आहारे नत्थि रागो, नत्थि नन्दी, नत्थि तण्हा, अपतिट्ठितं तत्थ विञ्ञाणं अविरुळ्हं। यत्थ अप्पतिट्ठितं विञ्ञाणं अविरुळ्हं, नत्थि तत्थ नामरूपस्स अवक्कन्ति। यत्थ नत्थि नामरूपस्स अवक्कन्ति, नत्थि तत्थ सङ्खारानं वुद्धि। यत्थ नत्थि सङ्खारानं वुद्धि नत्थि तत्थ आयतिं पुनब्बभवाभिनिब्बति, यत्थ नत्थि आयतिं पुनब्भवाभिनिब्बति, नत्थि तत्थ आयतिं जातिजरामरणं। यत्थ नत्थि आयतिं जातिजरामरणं असोक तं, भिक्खवे, अदरं अनुपायासन्ति वदामि।[1]

नगर सुत्त में भी किसके होने से क्या होता है और किसके नहीं होने से क्या नहीं होता है, यह बात स्पष्ट की गई है। भगवान ने कहा कि इस तरह मुझे ज्ञान की प्राप्ति हुई और मैंने जाना कि सङ्खार के निरोध से विज्ञान का निरोध होता है और विज्ञान के निरोध से नामरूप का निरोध होता है, नामरूप के निरोध से षड़ायतन का निरोध, षड़ायतन के निरोध से स्पर्श का निरोध, स्पर्श के निरोध से वेदना का निरोध और वेदना के निरोध से तृष्णा का निरोध...। इस प्रकार सारा दु:ख खन्ध का निरोध हो जाता है।[2] नामरूप के न होने से विज्ञान नहीं होता है अर्थात नामरूप के निरोध से विज्ञान का निरोध हो जाता है और विज्ञान के न होने से नामरूप नहीं होता अर्थात् विज्ञान के निरोध से नामरूप निरुद्ध हो जाता है।

इसी सुत्त में यह बात बताई गई है कि कैसे निरोध संभव है, निरोध की प्राप्ति के लिए आर्य अष्टांगिक मार्ग है जिसकी चर्चा इस सुत्त में की गई है।

सम्मस्स सुत्त में ऐसा प्रश्न किया गया है कि नाना प्रकार के दु:खों का क्या निदान है, क्या समुदय है, इनकी उत्पत्ति कैसे होती है, ये कैसे उत्पन्न होते हैं, किसके होने से जरा मरण होता है और किसके नहीं होने से जरा मरण नहीं होता है? **इदं खो दुक्खं किंनिदानं, किंसमुदयं, किंजातिकं, किंपभवं**, उत्तर स्वरूप यह कहा गया है कि दु:ख का निदान उपधि है, उपधि ही इसका कारण है, उपधि से ही यह जन्म लेता है, यह उपधि प्रभूत है, उपधि के होने से ही जरामरण होता है और उपधि के नहीं होने से जरामरण नहीं होता,-**इदं खो दुक्खं उपधिनिदानं, उपधिसमुदयं, उपधिजातिकं, उपधिपभवं उपधिस्मिं सति जरामरणं होति, उपधिस्मिं असति**

1. वही, 89
2. वही, 92

जरामरणं न होती ति। इस प्रकार वह जरामरण को अच्छी तरह जानता है, उसके कारण को जानता है, निरोध को जानता है और निरोध की ओर ले जाने वाले मार्ग को जानता है। इस प्रकार जरामरण के निरोध के लिए और दु:ख के क्षय के लिए वह रास्ते पर प्रतिपन्न हो जाता है। पुन: वह यह भी समझता है कि उपधि का निदान और कारण तृष्णा है। वह तृष्णा से उत्पन्न, तृष्णा से प्रभूत है, तृष्णा के होने से ही उपधि होती है, न होने से उपधि नहीं होती। इस प्रकार वह उपधि को अच्छी तरह जानता है, उपधि के कारण को भी जानता है और यह भी अच्छी तरह जानता है कि तृष्णा के होने से ही उपधि होती है। तृष्णा के न होने से उपधि नही होती।

पुन: वह यह जानना चाहता है कि तृष्णा कहाँ उपजती है और कहाँ रहती है। सम्यक रूप से विचार करने पर उसको यह स्पष्ट हो जाता है कि संसार मे जो प्रिय रूप है, सात रूप है, वहीं तृष्णा उपजती है और उसी में निवास करती है। संसार में सुन्दर वस्तुओं को देखकर तृष्णा उपजती है, सुन्दर शब्दों को सुनकर, अच्छी गन्ध को सूँधकर, अच्छे भोजन को चखकर, स्प्रष्टव्य वस्तुओं को छूकर और अच्छी बातों को सोचकर तृष्णा उपजती है और वहीं तृष्णा निवास करती है।

यं खो लोके पियरूपं सातरूपं, एत्थेसा तण्हा उप्पज्जमाना उप्पज्जति, एत्थ निविसमाना निवसति। किञ्च लोके पियरूपं सातरूपं, चक्खुं लोके पियरूपं सातरूपं। एत्थेसा तण्हा उप्पज्जमाना उप्पज्जति, एत्थ निविसमाना निवसति, सोतं लोके पियरूपं, सातरूपं पे...घाणं लोके पियरूपं सातरूपं जिह्वा लोके पियरूपं सातरूपं पे...कायो लोके पिय रूपं सातरूपं मनो लोके पियरूपं सातरूपं, एत्थेसा तण्हा उप्पज्जमाना उप्पज्जति, एत्थ निविसमाना निवसति।[1]

लेकिन यह जो प्रिय रूप और सात रूप है, जहाँ तृष्णा उपजती है वहीं अधिक बढ़ती है और दु:ख भी बढ़ता है। सारा दु:ख स्कन्ध इसी से उत्पन्न होता है। प्रतीत्यसमुत्पाद को ठीक से जानने वाला व्यक्ति भली-भांति जान जाता है कि जो प्रियरूप और सात रूप दिखाई पड़ता है, वह अनित्य है, दु:ख है तथा अनात्म है। वह यह समझ जाता है कि ऊपर से सुन्दर दिखाई पड़ने वाली वस्तु, ठीक उसी प्रकार है जैसे कोई पेय पदार्थ वर्ण, गन्ध और रस सम्पन्न हो किन्तु विषयुक्त हो। उस प्रकार के पेय पदार्थ के पीने से उसकी हानि अवश्यम्भावी है चूंकि वह विषयुक्त है। इस तरह संसार की सुन्दर वस्तुओं को, जो तृष्णा उत्पन्न करती है उनको वह ऐसा समझता है और तृष्णा का त्याग करता है। जो तृष्णा का परित्याग करता है वह उपधि का परित्याग करता है। उपधि के परित्याग से वह दु:ख से छुटकारा पाता है, जो दु:ख मुक्त होता है वह जाति जरा मरण शोक परिदेव दु:ख इत्यादि से छुटकारा पाता है।

1. वही, 95

ये तण्हं पजहिंसु ते उपधिं पजहिंसु। ये उपधिं पजहिंसु ते दुक्खं पजहिंसु। ये दुक्खं पजहिंसु ते परिमुच्चिंसु जातिया जराय मरणेन सोकेन परिदेवेहि दुक्खेहि दोमनस्सेहि उपायासेहि, परिमुच्चिंसु दुक्खस्मा ति वदामि।[1]

ऐसा ही अतीत में हुआ था, ऐसा ही भविष्य में होगा और ऐसा ही वर्त्तमान में हो रहा है। जो श्रमण या ब्राह्मण लोक में पाये जाने वाले प्रिय और सात रूप को देखकर तृष्णा उत्पन्न करता है, वह दु:खी होता है और जो इन प्रिय वस्तुओं के लिए तृष्णा उत्पन्न नही करता, बल्कि जो इन रूपों के असली स्वभाव अर्थात अनित्य दु:ख और अनात्म भाव को देखता है, वह तृष्णा का परित्याग करता है, उपधि का परित्याग करता है और सारे दु:ख स्कन्ध का नाश करता है।

येपि हि, केचि, भिक्खवे अनागतमद्धांन... पे०... एतरहि समणा वा ब्राह्मणा वा यं लोके पियरूपं सातरूपं तं अनिच्चतो पस्सन्ति दुक्खतो पस्सन्ति अनत्ततो पस्सन्ति रोगतो पस्सन्ति भयतो पस्सन्ति, ते तण्हं पजहन्ति। ये तण्हं पजहन्ति ते उपधिं पजहन्ति। ये उपधिं पजहन्ति ते दुक्खं पजहन्ति। ये दुक्खं पजहन्ति ते परिमुच्चन्ति जातिया जराय मरणेन सोकेन परिदेवेहि दुक्खेहि दोमनस्सेहि उपायासेहि, परिमुच्चन्ति दुक्खस्माति वदामी ति।[2]

नलकलापीसुत्त में पर्याय से प्रतीत्यसमुत्पाद को ही दर्शाया गया है। महाकोट्ठिक के यह पूछने पर कि जरामरण स्वयंकृत है या परकृत या स्वयंकृत और परकृत, सारिपुत्त ने कहा कि यह न तो स्वयंकृत है, न परकृत है न स्वयंकृत परकृत है और न अस्वयंकृत है या अपरकृत या अधीत्यसमुत्पन्न है बल्कि यह जाति के प्रत्यय से होता है–**जाति पच्चया जरामरणं ति**। इसी प्रकार जाति, भव, उपादान, तृष्णा, वेदना, स्पर्श, सळायतन, नामरूप आदि भी न तो स्वयंकृत है न परकृत है न स्वयंकृत परकृत है न अस्वयंकृत है अपरकृत है न अधीत्यसमुत्पन्न है बल्कि प्रतीत्यसमुत्पन्न है अर्थात भव से जाति उत्पन्न होती है, उपादान से भव, तृष्णा से उपादान, वेदना से तृष्णा, स्पर्श से वेदना आदि उत्पन्न होती है। इस बात को एक अच्छी उपमा के सहारे समझाया गया है। जैसे दो नलकलापी एक दूसरे पर आश्रित हो स्थित रहते हैं उसी प्रकार नामरूप के प्रत्यय से विज्ञान और विज्ञान के प्रत्यय से नामरूप तथा नामरूप के प्रत्यय से सळायतन आश्रित हो स्थित रहते हैं। इसी तरह नामरूप के निरोध हो जाने से विज्ञान का निरोध हो जाता है, सळायतन के निरोध से स्पर्श का निरोध तथा

1. वही, 97
2. वही, 97

स्पर्श के निरोध से वेदना का निरोध हो जाता है आदि। जिस प्रकार दो नलकलापियों में से जो एक दूसरे के सहारे स्थित हैं, एक को खींच लेने पर दूसरा गिर जाता है और दूसरे को खींचने पर पहला गिर जाता है, उसी प्रकार नामरूप के निरोध से विज्ञान का निरोध हो जाता है और विज्ञान के निरोध से नामरूप का निरोध हो जाता है।

जब कोई भिक्षु जरामरण का उपेदश निर्वेद, वैराग्य और निरोध के लिये करता है तो वह धम्मकथिक है, जब वह उसके प्रति निर्वेद, वैराग्य विकसित करने और उसके निरोध के लिये मार्ग पर प्रतिपन्न होता है तो वह धर्मानुधर्म प्रतिपन्न है और जब वह निर्वेद वैराग्य और निरोध प्राप्त कर जरामरण को बिना उत्पन्न किये विमुक्त हो विचरण करता है तो ऐसा कहना समीचीन है कि उस भिक्षु ने इसी जीवन में निर्वाण प्राप्त कर लिया। इसी तरह और ग्यारह कड़ियों के बारे में समझना चाहिये। इस तरह प्रतीत्यसमुत्पाद की बारह कड़ियों के छत्तीस प्रकार को समझना चाहिए। यह प्रतीत्यसमुत्पाद का विशद प्रख्यापन है।

''अविज्जाय चे, आवुसो, भिक्खु निब्बिदाय विरागाय निरोधाय धम्मं देसेति, धम्मकथिको भिक्खूति अलं वचनाय। अविज्जाय चे, आवुसो, भिक्खु निब्बिदाय विरागाय निरोधाय पटिपन्नो होति धम्मानुधम्मपटिपन्नो भिक्खूति अलं वचनाय। अविज्जाय चे, आवुसो, भिक्खु निब्बिदा विरागा निरोधा अनुपादा विमुतो होति; दिट्ठधम्मनिब्बानप्पत्तो भिक्खूति अलं वचनाया ति।[1]

प्रतीत्य समुत्पाद की प्रत्येक कड़ी का ज्ञान, उसका भावनमयी अभ्यास और उसका निरोध कर निर्वाण की प्राप्ति के माध्यम से यहाँ इसका प्रख्यापन किया गया है।

कोसम्बि सुत्त में नारद ने यह स्वीकार किया है कि यथार्थ ज्ञान होने का अर्थ क्षीणाश्रव होना नहीं है।

''भवनिरोधो निब्बानं ति खो मे, आवुसो, यथाभूतं सम्मप्पञ्ञाय सुदिट्ठं, न चम्हि अरहं रवीणासवो।[2]

इसे उन्होंने एक उपमा के सहारे दर्शाया है। कोई व्यक्ति कुएं में पानी है इसको कुएं में झांक कर देख तो सकता है, लेकिन वह इससे अपनी प्यास नहीं बुझा पाता। प्यास बुझाने के लिये तो बाल्टी, रस्सी तथा कुएं से पानी खींचने की आवश्यकता पड़ेगी।

---

1. वही, 100
2. वही, 103

उपयन्ति सुत्त में भी प्रतीत्य समुत्पाद की ही बात कही गई है और इसे एक उपमा के सहारे समझाया गया है। जब समुद्र भरता है तो महानदी भरती है, महानदी के भरने पर छोटी नदियाँ भरती हैं, छोटी नदी के भरने पर महासोब्भ और महासोब्भ के भरने पर छोट्य सोब्भ। ठीक इसी तरह अविज्जा होने से संस्कार और संस्कार के होने से विज्ञान आदि होते है।

इसके विपरीत महासमुद्र में यदि पानी घटता है तो महानदी में पानी घट जाता है, महानदी में घटने से छोटी नदी में और छोटी नदी में घटने से महासोब्भ में तथा महासोब्भ में घटने से छोटे सोब्भ में घट जाता है।

महासमुद्दो, भिक्खवे उपयन्तो महानदियो उपयापेति, महानदियो उपयन्तियो कुन्नदियो उपयापेन्ति...जरामरणं उपयापेति।

महासमुद्दो, भिक्खवे, अपयन्तो महानदियो अपयापेति, महानदियो अपयन्तियो कुन्नदियो अपयापेन्ति ... जाति अपयेन्ती जरामरणं अपयापेती ति।[1]

सुसिमसुत्त में चित्त के प्रकार जैसे सराग, वीतराग, सद्वेष, वीतद्वेष, समोह, वीतमोह आदि का उल्लेख है। साथ ही कायिक, वाचिक, मानसिक कुशल और अकुशल कर्मों का भी उल्लेख है। और प्रतीत्यसमुत्पाद का भी विशद वर्णन है। भगवान बुद्ध ने इसी के माध्यम से सुसिम परिव्राजक को अत्यंत गंभीर उपदेश दिया है। प्रतीत्यसमुत्पाद के नियमों को तथा वस्तुओं एवं धर्मों के त्रिलक्षणात्मक स्वभाव को भी समझाया है। प्रत्यय और हेतु से चीजें उत्पन्न होती हैं और उनके निरोध हो जाने पर वैसी चीजें उत्पन्न नहीं होतीं, निरूद्ध हो जाती हैं।

साथ ही पाँच उपादानों में से किसी के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि 'यह मेरा है, न यह मैं हूँ और न यह मेरी आत्मा है।' **"नेतं मम, नेसोहमस्मि, नेसो मे अत्ता" ति।** और फिर ऐसा जानकर निर्वेद उत्पन्न करता है और सभी दुःखों का अन्त करता है, विमुक्त होता है और विमुक्ति प्राप्त कर लेने का ज्ञान अधिगम करता है।

समण ब्राह्मण वग्ग के **जरामरण सुत्त** एवं जातिसुत्तादिदसकं में भगवान बुद्ध ने कहा है कि जो श्रमण या ब्राह्मण जरामरण, जरामरण के कारण इसके निरोध तथा इसके निरोध की ओर ले जाने वाले मार्ग को प्रज्ञापूर्वक जानता है वह इसी जीवन में श्रामण्य अथवा ब्राह्मण्य को स्वयं अभिज्ञा से साक्षात्कार कर, प्राप्त कर विहार करता

1. वही, 104

है। इसी तरह जो जाति, भव, उपादान, तृष्णा, वेदना आदि तथा इनके समुदय निरोध और निरोध गामिनीप्रतिपदा को प्रज्ञापूर्वक अथवा भली भांति नहीं जानता है वह श्रमण नहीं, ब्राह्मण नहीं, उनमें न श्रामण्य है और न ब्राह्मण्य। ठीक इसके विपरीत जो जरामरण, जाति, भव, उपादान तृष्णा, वेदना आदि तथा इनके कारण निरोध और निरोध की ओर ले जाने वाले मार्ग को जानता है वही सच्चा श्रमण और ब्राह्मण है।

''ये हि केचि, भिक्खवे, समणा वा ब्राह्मणा वा जरामरणं नप्पजानन्ति,. ..जरामरणनिरोधगामिनीपटिपदं नप्पजानन्ति, न मे ते भिक्खवे, समणा वा ब्राह्मण वा समणेसु वा समणसम्मता ब्राह्मणेसु वा ब्राह्मणसम्मता, न च पन ते आयस्मन्तो सामञ्ञत्थं ब्राह्मणञ्ञत्थं वा दिट्ठे धम्मे सयं अभिञ्ञा सच्छिकत्वा उपसम्पज्ज विहरन्ति।[1]

धातु संयुक्त में **धातुनानत्तसुत्त** में धातुओं की सविस्तर चर्चा है। धातुएँ अठारह हैं जैसे चक्खु धातु, रूप धातु, चक्खु विञ्ञाण धातु सोत धातु, सद्द धातु, सोत विञ्ञाण धातु आदि।

चक्खु धातु, सोत धातु आदि के प्रत्यय से पाँच प्रकार के स्पर्श उत्पन्न होते हैं। ''**चक्खु सम्फस्सो सोत सम्फस्सो मनोसम्फस्सो**... आदि। ऐसा **फस्सानत्त सुत्त** में दिखाया गया है। नोफस्सनानत्त सुत्त में कहा गया है कि धातु नानात्व के प्रत्यय से स्पर्श नानात्व होता है लेकिन स्पर्शनानात्व से धातुनानात्व नहीं होता।

वेदनानानत्त सुत्त[2] तथा **दुतिय वेदना नानत्त सुत्त** में दिखाया गया है। कि धातु नानात्व से स्पर्श नानात्व और स्पर्शनानात्व से वेदनानानात्व होता है परन्तु वेदनानानात्व से न तो स्पर्श नानात्व और न स्पर्शनानात्व से धातु नानात्व होता है।

सञ्ञानानत्त सुत्त में कहा गया है कि धातुनानात्व के प्रत्यय से संज्ञानानात्व ओर संज्ञानानात्व के प्रत्यय से संकल्पनानात्व, संकल्पनानात्व के प्रत्यय से छन्द नानात्व, छन्द नानात्व के प्रत्यय से परिळाहनानात्व और परिळाह नानात्व के प्रत्यय से परियेसनानानात्व उत्पन्न होता है। रूपधातु के प्रत्यय से रूपसंज्ञा, रूप संज्ञा के प्रत्यय से रूप परियेसना की उत्पत्ति होती है। इसी तरह औरों के बारे में भी समझना चाहिये।

नोपरियेसनानानत्तसुत्त[3] में यह कहा गया है कि धातुनानात्व के प्रत्यय से

1. वही, 112
2. वही, 126-127
3. वही, 128

संज्ञानानात्व, संज्ञानानात्व के प्रत्यय से संकल्पनानात्व आदि उत्पन्न होते हैं पर परियेसनानानात्व के प्रत्यय से परिळाहनानात्व और इसके प्रत्यय से छन्दनानात्व आदि की उत्पति नहीं होती।

इस तरह हम देखते है कि प्रतीत्यसमुत्पाद का नियम बड़ा व्यापक है। कोई धर्म या वस्तु अकारण उत्पन्न नहीं होती। सब का कारण है, हेतु है, प्रत्यय है।

सत्तधातु सुत्त में सात धातुओं का वर्णन है। आभाधातु, शुभ धातु, आकासानञ्चायतन धातु, विञ्ञाणञ्चायतन धातु, आकिञ्चञ्ञायतन धातु, नेवसञ्ञानासञ्ञायतन धातु तथा संज्ञावेदयित निरोध धातु। किसी भिक्षु के पूछने पर कि आभा धातु आदि का प्रत्यय क्या है तो उत्तर में कहा गया कि आभा धातु का प्रज्ञापन अंधकार को लेकर है अर्थात अंधकार प्रत्यय है आभा धातु का, अशुभ प्रत्यय है शुभ का, आकासानञ्चायतन धातु का प्रत्यय रूप है, विञ्ञाणाञ्चायतन धातु का प्रत्यय है, विञ्ञाणाञ्चायतन धातु और नेवसञ्ञानासञ्ञायतन धातु का प्रत्यय आकिञ्चञ्ञायतन और संज्ञावेदयित निरोध धातु का प्रज्ञापन निरोध धातु के प्रत्यय से होता है।[1]

सनिदानसुत्त में यह कहा गया है कि काम वितर्क, व्यापादवितर्क और विहिंसा वितर्क की उत्पति निदान से होती है, न कि अनिदान से। कामधातु के प्रत्यय से कामसंज्ञा, कामसंज्ञा के प्रत्यय से कामसंकल्प, कामसंकल्प के प्रत्यय से कामछन्द, कामछन्द के प्रत्यय से कामपरिळाह और कामपरिळाह के प्रत्यय से कामपरियेसना उत्पन्न होती है। ऐसा होने पर अश्रुतवान पृथकजन का कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म दुष्कर्म हो जाता है।[2]

इसी तरह व्यापादधातु और विहिंसाधातु के बारे में समझना चाहिये।

इसी बात को एक सुन्दर और सटीक उपमा के द्वारा समझाया गया है। अगर कोई व्यक्ति जलते हुये तृण उल्का को सूखे तृण पुञ्ज में फेंक दे और हाथ तथा पैर से शीघ्र उसको न बुझावे तो घास तथा जंगल में रहने वाले प्राणियों को बहुत कष्ट होगा।

इसी तरह जो श्रमण या ब्राह्मण उत्पन्न संज्ञा को शीघ्र नहीं छोड़ता, उसको शीघ्र नहीं हयता, शीघ्र नाश नहीं करता, वह दुःख प्राप्त करता है और मरने पर वह दुर्गति को प्राप्त करता है। ठीक इसके विपरीत जो श्रुतवान आर्यश्रावक हैं वे जानते हैं कि नैष्कर्म्य वितर्क, अव्यापाद वितर्क तथा अविहिंसा वितर्क भी सनिदान होते हैं,

1. वही, 132
2. वही, 133

अनिदान नहीं। नैष्कर्म्य धातु के प्रत्यय से नैष्कर्म्य संज्ञा उपजती है, नैष्कर्म्य संज्ञा के प्रत्यय से नैष्कर्म्य संकल्प, नैष्कर्म्य संकल्प के प्रत्यय से नैष्कर्म्य छन्द, नैष्कर्म्य छन्द के प्रत्यय से नैष्कर्म्य परिळाह और नैष्कर्म्य परिळाह के प्रत्यय से नैष्कर्म्य परियेसना। ऐसा होने से श्रुतवान आर्यश्रावक के कायिक वाचिक और मानसिक तीनों कर्म सम्यक एवं कुशल होते हैं।

जैसे कोई व्यक्ति जलते हुये तृण उल्का को सूखे तृणपुंज में फेंके और उसे शीघ्र ही हाथ पैर से कुचल डाले तो आग लगने की संभावना नहीं रहती और तृण तथा जंगल मे रहने वाले प्राणियों पर विपत्ति का पहाड़ नहीं टूटता। इसी तरह जो श्रमण या ब्राह्मण उत्पन्न विषय संज्ञा को शीघ्र ही छोड़ देता है, शीघ्र हट्य देता है, शीघ्र ही नाश कर देता है, वह दु:ख प्राप्त नहीं करता, मरने पर सुगति को प्राप्त करता है।[1]

चतुधातु सुत्त में पृथ्वी जल अग्नि और वायु धातु का उल्लेख है। हर धातु का एक आस्वाद है, इसका आदीनव (दुष्परिणाम) है और इससे बाहर निकलना है। जैसे पृथ्वी धातु से जो सुख मिलता है, वह इसका आस्वाद है। पृथ्वी धातु की अनित्यता, दु:खता और अनात्मता इसका दुष्परिणाम (खतरा) है और इसके प्रति छन्द और राग का विनयन तथा प्रहाण यही इसका निस्सरण है।[2] इसी तरह और धातुओं के विषय में समझना चाहिये। जो व्यक्ति इन धातुओं का अभिनंदन करता है, वह दु:ख का अभिनंदन करता है।[3] जो श्रमण या ब्राह्मण इन चारों धातुओं का आस्वाद, आदीनव और निस्सरण को यथाभूत नहीं जानता है, वह श्रामण्य या ब्राह्मण्य से दूर है और जो इन्हें यथाभूत जानता है वह सच्चा श्रमण और ब्राह्मण है।[4] चारों धातुओं को सम्यक रूप से जानने का तात्पर्य है इनके समुदय अस्तंगमन आस्वाद, आदीनव (दोष) और निस्सरण (मुक्ति) को अच्छी तरह से जानना। जो इन धातुओं को, इनके समुदय को, इनके निरोध को और इनकी निरोधगामिनीप्रतिपदा को जानता है वही सच्चा श्रमण और ब्राह्मण है।[5] वही स्वयं अभिज्ञान प्राप्त कर विहार करता है। जो इन धातुओं का अभिनंदन नहीं करता है वह दु:ख का अभिनंदन नहीं करता है, दु:ख का अभिनंदन न करने से वह दु:ख मुक्त हो जाता है। इनके समुदय निरोध और निरोध प्राप्त करने वाले मार्ग को प्रज्ञापूर्वक जान लेने से वह इसी

1. वही, 134-135
2. वही, 154
3. वही, 158
4. वही, 159
5. वही, 160

जीवन में स्वयं अभिज्ञा से श्रामण्य अथवा ब्राह्मण्य को साक्षात्कार कर, प्राप्त कर, विहार करने लगता है।

राहुल संयुक्त में त्रिलक्षणों को बताया गया है। सभी धर्म और वस्तुएं त्रिलक्षणात्मक हैं अर्थात् सभी अनित्य, दुःख और अनात्म हैं। भगवान बुद्ध ने राहुल को पूछा कि चक्षु नित्य है या अनित्य। राहुल के अनित्य कहने पर भगवान ने बताया कि जो अनित्य है, वह दुःखद है क्योंकि क्षण-क्षण परिवर्तनशील है और जो क्षण-क्षण परिवर्तनशील है वह आत्मा कैसे हो सकता है। अर्थात् वे सभी अनात्म हैं। इस तरह भगवान ने चक्षु, श्रोत, घ्राण, जिह्वा, काय तथा मन की, रूप, शब्द, गंध, रस, स्प्रष्टव्य और धर्म की, इनके द्वारा उत्पन्न स्पर्श की जैसे चक्षु संस्पर्श आदि की तथा चक्षुस्पर्श आदि से होने वाली वेदना की, रूप संज्ञा, शब्द संज्ञा, गंध संज्ञा, रस संज्ञा, स्पर्श संज्ञा तथा धर्म संज्ञा की, रूप संचेतना, शब्द संचेतना, गंध संचेतना, रस संचेतना स्पर्श संचेतना, धर्म संचेतना, रूप तृष्णा, रस तृष्णा, स्पर्श तृष्णा, धर्म तृष्णा, पृथ्वी धातु, आपोधातु, तेजो धातु, वायु धातु, आकाश धातु, विज्ञान धातु एवं रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान इन सबों की अनित्यता, दुःखता तथा अनात्मता बताई है।

इनकी अनित्यता दुःखता और अनात्मता को अनुभूति के स्तर पर जानकर आर्यश्रावक चक्षु, श्रोत, घ्राण, जिह्वा काय तथा मन से निर्वेद पा लेता है, निर्वेद पाकर विरक्त हो जाता है और विरक्त हो जाने से विमुक्त हो जाता है। वह यह प्रज्ञापूर्वक जान जाता है कि मैं विमुक्त हो गया, जन्म समाप्त हुआ, ब्रह्मचर्यवास का उद्देश्य पूरा हो गया, जो करना था सो मैंने कर लिया, अब पुनः इस लोक में आना नहीं है।

इसी संयुक्त के अन्तिम दो सुत्तों में राहुल ने भगवान से यह जानना चाहा कि कैसे जानने वाले तथा देखने वाले विज्ञान सहित इस शरीर में तथा बाहर के सभी निमित्तों में अहंकार, ममकार, मानानुशय नहीं होते हैं, अथवा इनके हट जाने से चित्त शांत और सुविमुक्त हो जाता है।

"कथं न खो, भन्ते, जानतो, कथं पस्सतो इमस्मिञ्च सविञ्ञाणके काये बहिद्धा च सब्बनिमित्तेसु अहङ्कारममङ्कार मानानुसया न होन्ती" ति?[1]

इस पर भगवान ने कहा कि भूत भविष्य या वर्त्तमान के, भीतर या बाहर के, स्थूल या सूक्ष्म, हीन या प्रणीत; दूरस्थ अथवा निकटस्थ जितने रूप हैं उन्हें जो यथार्थतः सम्यक प्रज्ञा से इस प्रकार देखता है- 'न यह मेरा है, न यह मैं हूँ, न यह मेरी

1. वही, 229

आत्मा है', उसको अहंकार ममकार अथा मानानुशय नहीं होते हैं और जो कोई इन्हें इस प्रकार जान कर उपादान रहित विमुक्ति पा लेता है, उसका चित्त शान्त और सुविमुक्त हो जाता है। "**यं किञ्चि, राहुल, रूपं अतीतानागतपच्चुप्पन्नं अज्झतं वा बहिद्धा वा ओळारिकं वा सुखुमं वा हीनं वा पणीतं वा यं दूरे सन्तिके वा सब्बं रूपं, नेतं मम, नेसोहमस्मि, न मेसो अत्ता ति एवमेतं यथाभूतं सम्मप्पञ्ञाय पस्सति। या काचि वेदना......पे०........यं किञ्चि विञ्ञाणं अतीतानागतपच्चुप्पन्नं अज्झतं वा बहिद्धा वा, ओळारिंक वा सुखुमं वा पणीतं वा यं दूरे सन्तिके वा, सब्बं विञ्ञाणं नेतं मम, नेसो हमस्मिं, न मेसो अत्ताति एवमेतं यथाभूतं सम्पप्पञ्ञाय पस्सति। एवं खो, राहुल, जानतो एवं पस्सतो इमस्मिञ्च सविञ्ञाणिके काये बहिद्धा च सब्बनिमित्तेसु अहङ्कारममङ्कार मानानुसया न होन्ती ति।**

खन्ध संयुक्त के कई सुत्तों में भी अभिधम्म के तत्व वर्त्तमान हैं। इस संयुक्त के नकुलपितु वग्ग के **नकुलपितु सुत्त** में भगवान बुद्ध ने वयोवृद्ध गृहपति नकुलपिता को यह कहा कि शरीर आतुर हो तो हो, चित्त को कभी भी आतुर नहीं होने देना चाहिए। इसी संदर्भ में भगवान ने क्यों आतुरता होती है- इसे बताया है। आयुष्मान सारिपुत्त ने नकुलपिता को इसे विस्तार से समझाया और कहा कि पञ्चस्कंधों को अपना समझने से अर्थात् उन सबों को या उनमें से एक को 'आत्मा' मान लेने से चित्त में आतुरता उत्पन्न होती है-अर्थात दु:ख होता है, क्योंकि ये सभी बदल जाते हैं। जो ऐसा मानता है कि मैं रूप हूँ या संज्ञा हूँ या संस्कार हूँ या विज्ञान हूँ या यह मेरा रूप है- मेरी वेदना है.... मेरी संज्ञा है उसे शोक-परिदेव दु:ख दौर्मनस्य होगा ही।

तस्स 'अहं रूपं, मम रूपन्ति परियुट्ठट्ठायिनो। तं रूपं विपरिणमति अञ्ञथा' होति। तस्स रूपविपरिणामञ्ञथाभावा उप्पज्जन्ति सोकपरिदेव दुक्खदोमनस्सुपयासा।[1]

इस प्रकार सारिपुत्त ने इस सुत्त में अनात्मवाद का प्रतिपादन किया है जो बौद्ध दर्शन की रीढ़ है। **देवदह सुत्त** में यह कहा गया है कि जो व्यक्ति रूप में विगतराग है, विगतछन्द है, विगतप्रेम है, विगत तृष्ण है उसको इसमें परिवर्त्तन होने पर भी शोक परिदेव नही होता है अर्थात् कहने का तात्पर्य है कि शोक एवं दु:ख का कारण तृष्णा है। जब तृष्णा ही नहीं होगी तो दु:ख कैसे होगा?[2] **हालिद्दिकानि सुत्त** में उपादान एवं

---

1. सं. नि. खन्धसंयुत्त 2.3
2. वही, 8

अनुपादान तथा परितस्सना एवं अपरितस्सना के बारे में बताया गया है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान में से किसी को भी ऐसा मान लेना कि 'यह मेरा है, यह मैं हूँ, यह मेरी आत्मा है' उपादान है। इसके विपरीत ऐसा नहीं मानना अनुपादान है। परितस्सना तथा अपरितस्सना भी क्रमशः उपादान और अनुपादान के ही पर्याय हैं। जो उपादान और परितस्सना को समाप्त कर देता है, उच्छिन्न कर देता है वह दुःखों से मुक्त हो जाता है।

कालत्तय अनिच्च सुत्त[1], **कालत्तय दुक्ख सुत्त** तथा **कालत्तय अनत्त सुत्त** में पंच स्कंधों की तीनों कालों में अनित्यता, दुःखता तथा अनात्मता की चर्चा की गई है और कहा गया है कि आर्य श्रावक इनकी भूतकालीन स्थिति के बारे में कोई अपेक्षा नहीं रखता, न भविष्य की स्थिति का अभिनंदन करता है और वर्त्तमान काल में वह निर्वेद, विराग एवं निरोध के लिये प्रयासरत रहता है।

अनिच्चवग्ग के सुत्तों में भी भगवान ने पाँच स्कन्धों के त्रिलक्षण को बताया है। ये सभी अनित्य हैं, दुःख हैं तथा अनात्म हैं। ''**रूपं, भिक्खवे, अनिच्चं। यदनिच्चं तं दुक्खं, यं दुक्खं तदनत्ता**।[2] इसी तरह वेदना आदि स्कन्ध की अनित्यता दुःखता तथ अनात्मता के बारे में बताया गया है। यह बताने के बाद भगवान ने भी कहा कि जो अनित्य है, दुःख है तथा अनात्म है, अर्थात जो अनित्य है वह दुःख है और जो दुःख है वह अनात्म है और जो अनात्म है वह न तो मेरा है, न वह मैं हूं, न वह मेरी आत्मा है।

''यदनत्ता तं नेतं मम, नेसोहमस्मि, न मेसो अत्ता' ति।[3]

पुनः यह भी बताया कि इन स्कंधों के प्रत्यय और हेतु भी अनित्य, दुःख एवं अनात्म हैं। अतः ये स्वयं नित्य, सुख एवं आत्मा नहीं हो सकते ।

इस वग्ग के अन्तिम सुत्त **आनन्द सुत्त** में भगवान ने आनन्द को बताया कि पाँचों उपादान अर्थात रूप, वेदना संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान सभी अनित्य, संस्कृत, प्रतीत्यसमुत्पन्न, क्षयधर्मा, व्ययधर्मा तथा निरोध धर्मा हैं।[4]

भार वग्ग के कुछ सुत्तों में भगवान ने भार के तात्पर्य को समझाया है। साथ ही 'भारहार' 'भार का उठाना', तथा 'भार को उतार देना', का भी तात्पर्य बताया है। भार

---

1. एवं पस्सं, भिक्खवे, सुतवा अरियसावको अतीतस्मिं रूपस्मिं अनपेक्खो होति, अनागतं रूपं नाभिनन्दति, पच्चुप्पन्नस्स रूपस्स निब्बिदाय विरागाय निरोधाय पटिपन्नो होति, वही, 18
2. वही, 21
3. वही, 21
4. वही, 24

का अर्थ पंच उपादान स्कंध है और चूंकि इनसे पुद्गल बनता है अतः पुद्गल को भार को ढोने वाला या भारहार कहा गया है। चूंकि पाँच स्कन्धों के प्राप्त होने पर स्वाभाविक रूप से पुद्गल में काम तृष्णा, भवतृष्णा और विभव तृष्णा रहती है, अतः इसे ही लाक्षणिक अर्थ में भार का ढोना कहा गया है। जब इन तृष्णाओं का सर्वथा निरोध हो जाता है तो बोझ उतर जाता है, भार हल्का हो जाता है। अतः इसे ही भार का उतार देना कहा जाता है।

"भारा हवे पञ्चक्खन्धा, भारहारो च पुग्गलो।
भारादानं दुःखं लोके, भार निक्खेपनं सुखं।।[1]

इसी वग्ग के **परिञ्ञसुत्त** में बताया गया है कि पाँचों स्कन्ध 'परिज्ञेय' धर्म हैं। राग, द्वेष और मोह का क्षय होना परिज्ञान है।

"यो, भिक्खवे, रागक्खयो, दोसक्खयो मोहक्खयो।
अयं वुच्चति, भिक्खवे, परिञ्ञा" ति।[2]

भगवान ने स्पष्ट किया कि जब तक पंचस्कन्धों से कोई व्यक्ति विरक्त नहीं होता, तब तक वह अपने दुःखों को नाश नही कर सकता, क्योंकि पञ्चस्कन्धों में आसक्ति ही दुःख की जननी है।

'रूपं भिक्खवे, अनभिजानं अपरिजानं अविराजयं अप्पजहं अभब्बो दुक्खक्खयाय...। रूपञ्च खो भिक्खवे, अभिजानं परिजानं विराजयं पजहं भब्बो दुक्खक्खयाय;।[3]

इनसे विरक्त होने पर ही कोई व्यक्ति दुःख मुक्त हो सकता है। इनसे विरक्त होने के लिये इनके प्रति जो छन्द राग है, उसका परित्याग करना पड़ेगा। परित्याग कर देने पर छन्दराग का प्रहाण हो जाता है और वह उखड़ी हुई जड़ वाले तालवृक्ष के समान होकर फिर से पनपने योग्य नही होता।"

'यो भिक्खवे, रूपस्मिं छन्दरागो तं पजहथ। एवं तं रूपं पहीनं भविस्सति उच्छिन्नमूलं तालावत्थुकतं अनभावंकतं आयतिं अनुप्पादधम्मं।[4]

अस्साद सुत्त में भगवान ने पाँच स्कन्धों के आस्वाद, इनके दोष तथा कैसे इनसे छुटकारा मिल सकती है- इसे बताया है।

---

1. वही, 25
2. वही, 25
3. वही, 26
4. वही, 26

'यं खो रूपं पटिच्च उप्पज्जति सुखं सोमनस्सं, अयं रूपस्स अस्सादो-[1]

अर्थात् रूप के प्रत्यय से होने वाला सुख ही आस्वाद है। **यं रूपं अनिच्चं दुक्खं विपरिणामधम्मं, अयं रूपस्स आदीनवो**[2]। इसका अनित्य स्वभाव ही इसका दोष है। **यो रूपस्मिं छन्दरागविनयो, छन्दरागप्पहानं, इदं रूपस्स निस्सरणं**[3]।

इसके प्रति होने वाले छन्दराग को, आसक्ति को, तृष्णा को दबा देना ही इससे छुटकारा पाना है। इन उपादान स्कंधों के आस्वाद को आस्वाद के तौर पर, इनके दोष को दोष के तौर पर तथा इनसे निस्सरण को निस्सरण के तौर पर जान लेने से ही मुक्ति का पथ प्रशस्त होता है। जो व्यक्ति इस तरह का ज्ञान प्राप्त कर लेता है उसकी मुक्ति अचल हो जाती है। यह उसका अन्तिम जन्म होता है। अब उसका पुनर्जन्म नहीं होगा।

'अकुप्पा मे विमुत्ति, अयमन्तिमा जाति, नत्थिदानि पुनब्भवो ति।'[4]

अभिनन्दनसुत्त में दु:ख की उत्पत्ति के बारे में कहा गया है। रूप, वेदना आदि पंच स्कन्धों के अभिनंदन से ही दु:ख की उत्पत्ति होती है। और जो इनका अभिनन्दन नहीं करता, वह दु:ख से परिमुक्त हो जाता है।

इस सुत्त में दु:ख के प्रत्यय तृष्णा को बताया गया है। प्रतीत्यसमुत्पाद की एक कड़ी का वर्णन यहाँ एक प्रकार से किया गया है। इसी बात को एक और प्रकार से **उप्पाद सुत्त** में कहा गया है। रूप वेदना आदि पांच स्कन्धों की उत्पत्ति, स्थिति अभिनिवृत्ति और प्रादुर्भाव से दु:ख की उत्पत्ति , रोगों की स्थिति और जरामण का प्रादुर्भाव होता है।

और ठीक इसके विपरीत यदि रूप का निरोध हो जाता है तो दु:ख का निरोध, रोगों का निरोध और जरामरण का निरोध हो जाता है। इस सुत्त में प्रतीत्यसमुत्पाद का प्रतिलोम क्रम है। जहाँ **अभिनन्दन सुत्त** में इसके होने पर यह होता है- **इमस्मिं सति इदं होति** वहाँ उप्पाद सुत्त में इसके न होने पर यह नहीं उत्पन्न होता है। **इमस्मिं असति इदं निरूज्झति** की बात कही गई है अर्थात प्रतीत्य समुत्पाद के दो नियम यहाँ प्रख्यापित किये गये है।

---

1. वही, 26
2. वही, 27
3. वही, 26
4. वही, 27

अधमूल सुत्त में पाँच उपादानों को दु:ख तथा कामतृष्णा, भवतृष्णा तथा विभवतृष्णा को दु:ख का मूल कहा गया है।

न तुम्हाकं वग्ग के **न तुम्हाकं सुत्त** में भगवान ने भिक्षुओं को बताया कि जो अपना नहीं है उसका त्याग करना चाहिए। त्याग करने से, उसका प्रहाण करने से ही अपना हित सुख होता है। इसी प्रसंग में उन्होंने कहा कि रूप, वेदना आदि पाँच स्कन्ध अपना नहीं है। अत: इन्हें छोड़ देने में ही अपना कल्याण है।

यं, भिक्खवे, न तुम्हाकं तं पजहथ। तं वो पहीनं हिताय सुखाय भविस्सति।[1]

भगवान ने इसे एक उपमा के सहारे भिक्षुओं को समझाया। कहा कि, भिक्षुओ, यदि इस जेतवन के तृण, काष्ठ, शाखा आदि को कोई ले जाय या जला दे या जैसा वह समझे उसको वैसा करे तो क्या तुम ऐसा सोचोगे कि वह मेरी वस्तुएँ ले जा रहा है। भिक्षुओं के 'नहीं' उत्तर देने पर भगवान ने कहा कि इसी तरह पाँच उपादान स्कंध भी तुम्हारे नहीं है। इसलिए उनका त्याग करना चाहिए अर्थात् उनके प्रति आसक्ति नहीं रखनी चाहिए।[2] इस वग्ग में भी बार-बार यह बताया गया है कि पाँच उपादान स्कंध अपना नहीं है। चूंकि ये अनित्य, दु:ख तथा अनात्म हैं अत: इनके परित्याग से ही आत्म-कल्याण हो सकता है। जन्म, जरा, मृत्यु, शोक, विलाप, दु:ख, दौर्मनस्य तथा उपायास से मुक्ति मिल सकती है।[3]

अत्तदीप वग्ग के सुत्तों में जहाँ भगवान बुद्ध ने अपने ही को अपना द्वीप, अपनी शरण तथा धर्म को ही द्वीप तथा शरण बनाने कहा है, किसी अन्य को शरण नहीं, वहाँ उन्होंने यह भी बताया है कि दु:ख स्कन्ध की उत्पत्ति अपने को ठीक से नहीं जानने से होती है। यदि हम पाँच स्कन्धों से या इनमें से किसी एक से तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं तो आसक्ति (तृष्णा) होती है जो दु:ख का कारण है। अपने को ठीक से जानने का तात्पर्य है यह जानना कि रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान चूंकि अनित्य है अत: इनसे तादात्म्य स्थापित करना अज्ञानता है। ये बदलते हैं। अत: दु:ख की उत्पत्ति होती है।[4] रूप आदि को आत्मा की तरह देखने -**रूपं अत्ततो समनुपस्सति**- से सत्काय की उत्पत्ति होती है जो दस संयोजनों में से एक है।

सत्काय दृष्टि को प्रहाण करने का यह उपाय है कि वह रूप को आत्मा की तरह नहीं देखे- **न रूपं अत्ततो समनुपस्सति, न रूपवन्तं वा अत्तानं; न अत्तनि वा**

1. वही, 32
2. वही, पठम नतुम्हाकं सुत्तं 32
3. वही, 31-39
4. वही, 40

रूपं, न रूपस्मिं वा अत्तानं- न आत्मा को रूपवान समझे, न अपने में रूप देखे, न रूप में आत्मा को देखे। फिर इनकी अनित्यता, दु:खता तथा अनात्मता को ठीक से जान लेने से वह उपादान रहित हो, आश्रवों से विरक्त हो जाता है, विमुक्त हो जाता है। इस तरह अंत में निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है।[1]

पंच स्कन्धों से तादात्म्य स्थापित करने पर 'अस्मि' की अविद्या होती है, जिससे पाँच इन्द्रियों का प्रादुर्भाव होता है। यहीं तृष्णा उत्पन्न होती है और यहीं तृष्णा का प्रहाण होता है।

इस वग्ग के **खन्ध सुत्त** में यह कहा गया है कि जो भी रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान अतीत, वर्त्तमान, भविष्य में तथा भीतर-बाहर-स्थूल-सूक्ष्म या प्रणीत रूप में दूर या निकट में पाये जाते है:- वे पांच स्कन्ध कहे जाते हैं और जब इनका आश्रव सहित उपादान होता है तो उन्हें पाँच उपादान स्कन्ध कहते हैं।[2] इन संस्कारों को अनित्यता की दृष्टि से देखना सम्यक दृष्टि है।

सम्मापस्सं निब्बिन्दति।[3]-सम्यक रूप से देखने पर निर्वेद प्राप्त होता है। आसक्ति के क्षय होने पर राग का क्षय होता है और राग के क्षय होने से आसक्ति का क्षय। जब आसक्ति और राग का क्षय हो जाता है तो चित्त अच्छी तरह विमुक्त हो जाता है।

नन्दिक्खया रागक्खयो, रागक्खया नन्दिक्खयो।
नन्दिरागक्खया चित्तं विमुत्तं सुविमुत्तन्ति वुच्चति।[4]

जो इन पाँच स्कन्धों के समुदय, निरोध तथा निरोध कराने वाले मार्ग को नहीं जानते हैं वे श्रामण्य और ब्राह्मण्य से बहुत दूर हैं अर्थात् न तो वे सच्चे अर्थ में श्रमण हैं न ब्राह्मण। यह **दुतियसोणसुत्त** में कहा गया है।[5] उपय वग्ग में भी जितने सुत्त हैं, उनमें पाँच स्कन्धों का ही भिन्न-भिन्न दृष्टियों से वर्णन है। **उपय सुत्त** में कहा गया है कि किसी भी स्कन्ध के प्रति आसक्त होने से विज्ञान बना रहता है जो फलता-फूलता रहता है। जब रूप धातु, वेदना धातु, संज्ञा धातु, संस्कार धातु तथा विज्ञान धातु से राग का प्रहाण हो जाता है, राग का समूलोच्छेद हो जाता है तो विज्ञान के स्थित रहने का आधार ही समाप्त हो जाता है। निर्वाण का मार्ग साफ हो जाता है।

---

1. वही, 41
2. वही, 44
3. वही, 47
4. वही, 47
5. वही, 47

उपादान सुत्त में कहा गया है कि जो आर्यश्रावक किसी भी उपादान स्कंध में तादात्म्य स्थापि नहीं करता तथा इनके त्रिलक्षणात्मक स्वभाव को जानता है तथा यह भी जानता है कि ये संस्कृत हैं तथा ये वस्तुतः नहीं हैं अर्थात परमार्थ सत्य नहीं हैं और यदि वह ऐसा जान गया हो कि यदि यह न हो तो मेरा न हो, यदि यह नहीं होगा तो मेरा नहीं होगा तो वह अवरभागीय बंधनों को काट डालता है।

रूप, वेदना संज्ञा आदि का अभिप्राय विस्तार से **उपादानपरिपवत्त सुत्त** में बताया गया है। चार महाभूत और उनसे उत्पन्न उपादाय रूप सभी रूप हैं। आहार इसका कारण है, समुदय है और आहार के निरोध से इसका निरोध होता है। आर्य अष्टांगिक मार्ग रूप निरोधगामिनी प्रतिपदा है। इसी तरह वह वेदना निरोधगामिनी प्रतिपदा, संज्ञा निरोधगामिनी प्रतिपदा, संस्कार निरोधगामिनी प्रतिपदा तथा विज्ञान निरोधगामिनीप्रतिपदा है।[1]

इस प्रकार जो श्रमण या ब्राह्मण इन स्कंधों को अच्छी तरह जान लेते हैं, इनके समुदय, निरोध और निरोधगामिनी प्रतिपदा को जान लेते हैं वे निर्वेद प्राप्त करते हैं और उन्हीं की सुविमुक्ति होती है।

यहाँ हम देखते हैं कि पाँच स्कन्ध के साथ-साथ रूप, वेदना, संज्ञा संस्कार तथा विज्ञानों के प्रकार गिनाये गये हैं। मार्ग के आठ अंगों की बात कही गई है तथा प्रतीत्यसमुत्पाद की एक कड़ी को दर्शाया गया है।

सत्तट्ठान सुत्त में कहा गया है कि जो भिक्षु सात स्थानों में कुशल और तीन प्रकार से परीक्षा करने वाला होता है उसे इस धर्म विनय में केवली कहा जाता है, उत्तम पुरुष कहा जाता है और यह कहा जाता है कि उसका ब्रह्मचर्य सफल हुआ।

सात स्थान हैं किसी स्कंध को जानना, उसके समुदय को जानना, निरोध को जानना, निरोध गामिनीप्रतिपदा को जानना, उसके आस्वाद को जानना, उसके दोष को जानना तथा उससे कैसे निस्सरण हो यह जानना। पुनः यदि वह एक-एक की उसके अपने स्वभाव के अनुसार परीक्षा करके देखता है, आयतन की दृष्टि से परीक्षा करता है तथा प्रतीत्यसमुत्पाद की दृष्टि से परीक्षा करके देखता है तो वह तीन प्रकार से परीक्षा करने में कुशल कहा जाता है।[2]

अनत्तलक्खण सुत्त में अनात्मवाद का प्रतिपादन किया गया है। यदि उपादान में से कोई आत्मा होता तो जैसा चाहा जाता, वह वैसा ही होता जैसे कोई कहता 'मेरा रूप ऐसा हो, ऐसा न हो या मुझे ऐसी वेदना न हो- ऐसी हो-तो ऐसा ही होता। पर

1. वही, 54-56
2. वही, 56-60

ऐसा होता कहाँ है? अत: कोई भी उपादान आत्मा नहीं हैं।[1] **आदित्तसुत्त** में सबों को जलते हुए दिखाया गया है। रूप, वेदना, संज्ञा संस्कार और विज्ञान- ये सभी नित्य जल रहे हैं। चूंकि ये अनित्य हैं, अत: दु:ख हैं और जो दु:ख है उसमें आत्मा कहा?[2] जलने का अर्थ है तृष्णा रूपी आग का न बुझना। जब तक तृष्णा एवं आसक्ति उपादानों के प्रति रहती है, तब तक मनुष्य जलता रहता है। साथ ही सभी उपादान क्षण-क्षण बदल रहे हैं। प्रतिक्षण बदलकर ये दु:ख ही उत्पन्न करते हैं। इसलिए कहा गया है कि ये सभी आदीप्त हैं, जल रहे हैं।

अरहन्त वग्ग के कुछ सुत्तों में यह बताया गया है कि चूंकि सभी वस्तुएँ अनित्य दु:ख और अनात्म स्वभाव वाली हैं अत: उनके प्रति छन्द को त्याग देने से ही मनुष्य मार के क्षेत्र का अतिक्रमण कर सकता है।

'रूपं खो, भन्ते, अनिच्चं..., रूपं खो, भिक्खु दुक्खं, रूपं खो भिक्खु अनत्ता।[3] इसी तरह अन्य स्कंध भी अनित्य दु:ख और अनात्म स्वभाववाला है। अत: **'तत्र मे छन्दो पहातब्बो।'** अत: उनमें छन्द प्रहातव्य है।

खज्जनीय वग्ग के सुत्तों में भी पाँच स्कन्धों, त्रिलक्षणों तथा चार स्मृति प्रस्थानों, चार सम्यक प्रधानों, चार ऋद्धिपादों, पाँच इन्द्रियों, पाँच बलों, सात बोध्यगों और आर्य अष्यंगिक मार्ग के बारे में कहा गया है। **पुण्णम सुत्त** में सत्काय दृष्टि की उत्पत्ति के बारे में बताया गया है। रूप को आत्मा की तरह देखना, रूपवान को आत्मा समझना, अपने में रूप देखना तथा रूप में अपनी आत्मा का देखने से सत्काय दृष्टि होती है।

'रूपं अत्ततो समनुपस्सति रूपवन्तं व अत्तानं; अत्तनि वा रूपं, रूपस्मिं वा अत्तानं।[4]

थेरवग्ग के सुत्तों मे पाँच उपादान स्कन्धों की अनित्यता, दु:खता तथा अनात्मता के बारे में बार-बार उपदेश दिया गया है। कभी मन्ताणिपुत्त भिक्षुओं को यह उपेदश देते हैं, कभी भगवान वक्कलि या अस्सजि को उपदानों के त्रिलक्षणात्मक स्वभाव को बताते हैं, कभी इन उपादानों के उदय-व्यय के बारे में बताते हैं। संक्षेप में इस वग्ग में भी पाँच उपादान स्कन्धों के बारे में ही चर्चा की गई है।[5]

1. वही, 61
2. वही, 65
3. वही, 71-73
4. वही, 93
5. वही, 96

पुप्फ वग्ग के **फेणपिण्डूपम सुत्त** में एक उपयुक्त उपमा के सहारे भगवान ने शरीर की असारता को बताया है।

> **"फेणपिण्डूपमं रूपं, वेदना बुब्बुळूपमा।**
> **मरीचिकूपमा सञ्ञा, सङ्खारा कदलूपमा।**
> **मायूपमञ्च विञ्ञाणं, देसितादिच्चबन्धुना।**[1]

रूप फेण के पिण्ड सदृश है, वेदना पानी के बुलबुला सदृश, संज्ञा मरीचिका सदृश, संस्कार केले के वृक्ष सदृश और विज्ञान माया सदृश है। जब इन उपादानों की असारता को भिक्षु अच्छी तरह जानकर दिन और रात स्मृतिमान और संप्रज्ञ बना रहकर संयोजनों को छोड़ दे, तभी निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है।

गद्दुलबद्ध सुत्त में भगवान ने कहा है कि अविद्या के अंधकार में पड़े हुए, तृष्णा के बंधन में बंधे हुए और संसार में संधावन करने वाले प्राणियों के दु:ख का अन्त नहीं होता। समुद्र सूख सकता है, सुमेरु पर्वत का भी नाश हो जा सकता है। पर अविद्यांधकार में पड़े व्यक्ति के दु:खों का अन्त नहीं हो सकता। ठीक उसी तरह जैसे मजबूती से गड़े हुए खूंटे में बंधा कुत्ता खूंटे के इर्द-गिर्द ही चलता रहता है, बैठता रहता है, ठहरता रहता है तथा लेटता रहता है उसी तरह अज्ञानी व्यक्ति जो पांच उपादानों में से किसी को भी ऐसा समझता है कि 'यह मेरा है, यह मैं हूं, यह मेरी आत्मा है' वह इन्हीं पांच उपादान स्कंधों के इर्द-गिर्द चलता, ठहरता, बैठता, अथवा लेटता रहता है।[2] इसलिये बार-बार आत्म चिन्तन करना चाहिये कि यह चित्त दीर्घ काल से राग, द्वेष तथा मोह से मलिन हो गया है।

दीघरत्तमिदं चित्तं संकिलिट्ठं रागेन दोसेन, मोहेनाति[3]। **अनिच्च सञ्ञा सुत्त** में उन्होंने कहा कि अनित्य संज्ञा की भावना करने से सभी कामराग, रूपराग, भवराग और अविद्या दूर हो जाते हैं और सारी अस्मिता की जड़ें उखड़ जाती हैं।

अन्तवग्ग में चार अन्त, चार आर्य सत्य, पांच उपादान स्कंध तथा इनके समुदय, निरोध, आस्वाद, दोष और इनसे नि:सरण के बारे में बताया गया है। सत्काय-अंत पांच उपादान हैं सत्काय-समुदय अंत हैं तीन तृष्णायें जो पुनर्जन्म दिलाती हैं, सत्काय निरोध-अंत है तृष्णा का परित्याग और सत्काय निरोधगामिनीप्रतिपदा अंत है आर्य अष्यंगिक मार्ग। चार आर्य सत्यों को भी इस प्रकार समझना चाहिए। पांच उपादान

---

1. वही, 128
2. वही, 134
3. वही, 135-136

स्कंध परिज्ञेय धर्म हैं, राग, द्वेष तथा मोह का क्षय परिज्ञान है और परिज्ञाता पुद्गल अरहंत है।[1]

धम्मकथिक वग्ग में अविद्या की परिभाषा दी गई है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान तथा इनके समुदय, निरोध एवं निरोधगामिनी प्रतिपदा को प्रज्ञापूर्वक न जानना ही अविद्या है। इसके विपरीत इनको प्रज्ञापूर्वक जानना विद्या कहलाती है। इन स्कंधों से तादात्मय स्थापित करने वाला व्यक्ति दुःख में ही रहता है। और जीवन-मरण के भवचक्र में बंधा हुआ ही इस लोक से परलोक जाता है।

संयोजनीय सुत्त में कहा गया है कि रूप, वेदना, संज्ञा आदि संयोजनीय धर्म हैं। इनके प्रति होने वाला छन्दराग संयोजन कहलाता है। चूंकि ये संयोजन पैदा करने वाले हैं अतः इन्हें संयोजनीय धर्म कहते हैं। इन्हें उपादानिय धर्म भी कहा जाता है।[2]

श्रोतापन्न, सकृदागामी, अनागामी तथा अर्हत बनने के लिए यह आवश्यक है कि पाँच उपादान स्कंधों को अनित्य, दुःख, रोग, व्रण, शल्य, पाप, अन्तराय, पराया, झूठा, शून्य एवं अनात्म समझा जाय।

अविज्जा वग्ग में धम्मकथिक वग्ग की तरह बताया गया है कि अविद्या क्या है।[3]

दिट्ठिवग्ग में विभिन्न दृष्टियों जैसे मिथ्यादृष्टि, सत्काय दृष्टि, आत्मानुदृष्टि का प्रादुर्भाव कैसे होता है–यह दिखाया गया है। कारण है उपादानों के बारे में अज्ञानता। इसी अज्ञानता के चलते सत्काय दृष्टि आदि उत्पन्न होती है।

दिट्ठिसंयुत्त में अनेक प्रकार की मिथ्यादृष्टियों की उत्पति का कारण बताया गया है। दुःख के होने से, दुःख के उपादान से तथा दुःख के अभिनिवेश से ये मिथ्या दृष्टियाँ उत्पन्न होती हैं। परन्तु रूप वेदना अदि की अनित्यता, दुःखता तथा परिवर्तनशीलता को अच्छी तरह समझ लेने पर मिथ्यादृष्टियाँ उत्पन्न नहीं होतीं।

ओक्कन्तसंयुत्त, उप्पादसंयुत्त तथा किलेस संयुत्त में छः इन्द्रियों, इनके छः विषय, इनके छः प्रकार के विज्ञान, छः प्रकार के संस्पर्श, छः प्रकार की संस्पर्शज वेदना, रूपसंज्ञा, शब्द संज्ञा, गंध संज्ञा, रस संज्ञा, स्प्रष्टव्य संज्ञा तथा धर्म संज्ञा रूप संचेतना आदि छः संचेतनायें, रूप तृष्णा आदि छः प्रकार की तृष्णायें, पृथ्वी धातु,

---

1. वही, 141-144
2. वही, 150
3. वही, 154-158

जल, अग्नि, वायु, आकाश तथा विज्ञान धातु एवं रूप वेदना आदि पांच प्रकार के उपादानों के बारे में कहा गया है तथा यह बताया गया है, कैसे इनसे दु:ख तथा क्लेश उत्पन्न होता है।

सारिपुत संयुत्त में चार अरूपावचर ध्यान, निरोधसमापति तथा कुछ ध्यानांगों के बारे में कहा गया है।[1]

इस तरह यह स्पष्ट है कि ऊपर वर्णित संयुक्तों में अभिधम्म के ही तत्व बिखरे पड़े हैं। अधिकतर सुत्तों में उपादान, तृष्णा, प्रतीत्यसमुत्पाद, चार आर्यसत्य तथा अष्टांगिक मार्ग का वर्णन है।

सलायतन संयुत्त में छ: भीतरी तथा छ: बाहरी आयतनों के बारे में बार-बार कहा गया है। छ: भीतरी आयतन, चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय तथा मन हैं और छ: बाहरी आयतन रूप, शब्द, रस, गंध, स्प्रष्टव्य तथा धर्म हैं। ये सभी अनित्य हैं और दु:ख तथा अनात्म हैं। ठीक जिस तरह पांच उपादान स्कंध में अनित्यता दु:खता तथा अनात्मता है, वैसे ही इन आयतनों में भी है। इसलिये किसी भी आयतन को यह कहना है कि 'यह मेरा है, यह मैं हूँ या यह मेरी आत्मा है' अज्ञानता होगी। इसलिए प्रज्ञापूर्वक यह जान लेना चाहिए कि इनमें से कोई भी 'न मेरा है, न मैं हूँ, न मेरी आत्मा है।' इनसे तादात्म्य स्थापित करने की अज्ञानता भूल कर भी नहीं करनी चाहिये। ऐसा नहीं करने से ही आर्य श्रावक इनसे निर्वेद प्राप्त कर विमुक्ति पा लेता है।

यमक वग्ग में भी आयतनों की चर्चा तो है ही साथ ही इनके आस्वाद, दोष एवं इनसे नि:सरण पर यहाँ प्रभूत प्रकाश डाला गया है। भगवान बुद्ध ने कहा कि मैंने इन आयतनों के आस्वाद को आस्वाद के तौर पर, दोष को दोष के तौर पर तथा इनसे निस्सरण को निस्सरण के तौर पर जान लेने के बाद ही अपने को सम्यक संबुद्ध होने का दावा किया।

रूपों का आस्वाद क्या है- **को नु खो रूपानं अस्सादो**[2]? इसके उत्तर में कहा गया कि रूपों के प्रत्यय से उत्पन्न होने वाला सुख-सौमनस्य इनका आस्वाद होता है- **यं खो रूपे पटिच्च उप्पज्जति सुखं सोमनस्स, अयं रूपानं अस्सादो।**[3] इनका दोष क्या होता है-**को नु खो रूपानं आदीनवो।**[4] इसके उत्तर में कहा गया कि इनकी अनित्यता, दु:खता तथा विपरिणाम धर्मता इनका दोष है।

1. वही, 232-237
2. वही सळायतन संयुत्त, 2.7
3. वही, 7
4. वही, 7

यं रूपा अनिच्चा दुक्खा विपरिणामधम्मा, अयं रूपानं आदीनवो।[1] इनसे निस्सरण क्या है अर्थात् इनका निस्सरण क्या है- **कि नु खो रूपानं निस्सरणं**[2] तो कहा गया कि **यो रूपेसु छन्दराग विनयो, छन्दरागप्पहानं, इदं रूपानं निस्सरणं**[3]। इसी तरह आयतनों के विषय में कहा गया है। आयतनों के अभिनंदन करने का अर्थ दुःख का ही अभिनंदन करना है। आयतनों की उत्पत्ति (उप्पादो) स्थिति (ठिति) अभिनिवृत्ति (अभिनिब्बति) प्रादुर्भाव (पातुभावो) से ही दुःख की उत्पत्ति होती है, रोग उत्पन्न होते हैं और जरामरण होता है। इनके निरोध तथा उपशमन से दुःख का निरोध, रोगों का उपशमन तथा जरामरण का अस्तगमन है। सब्बवग्ग में भगवान ने भिक्षुओं को बताया कि भीतरी और बहारी आयतन ही सर्व है।

सर्व को ठीक से समझे, जाने बिना, इससे विरक्त हुये बिना और इसे छोड़े बिना दुःखों से मुक्ति संभव नहीं है। पर यदि इसे पूरी तरह जान-समझ लिया जाय तो दुःखों से मुक्ति संभव है। "**सब्बं, भिक्खवे अनभिजानं, अपरिजानं अविराजयं अप्पजहं अभब्बो दुक्खक्खयाय....इदं, खो, भिक्खवे, सब्बं अभिजानं, परिजानं विराजयं पजहं भब्बो दुक्खक्खयायाति**[4]

उन्होंने यह भी कहा कि सर्व जल रहा है। -राग अग्नि से, द्वेषाग्नि से, मोहग्नि से और सर्व आर्द्र भी है जाति जरा मरण शोक परिदेव दुःख, दौमनस्य तथा उपायास से।[5]

जाति धम्म वग्ग के सुत्तों में भगवान बुद्ध ने चक्षु रूप, चक्षु विज्ञान, चक्षु संस्पर्श तथा चक्षु संस्पर्श से उत्पन्न होने वाली वेदना को जाति धर्मा, जराधर्मा, व्याधिथर्मा, मरणधर्मा, शोकधर्मा, संक्लेशिक धर्मा, क्षय धर्मा, समुदय धर्मा तथा व्यय धर्मा बतलाया है। और ऐसे ही श्रोत्र, शब्द, श्रोत विज्ञानादि को।[6] **सब्ब अनिच्च वग्ग** के सुत्तों में दिखाया गया है कि चक्षु रूप, चक्षु विज्ञान, चक्षु संस्पर्श और चक्षु संस्पर्श से उत्पन्न होने वाली वेदना अनित्य, दुःख, अनात्म, अभिज्ञेय, परिज्ञेय, प्रहातव्य, साक्षात्करणीय अभिज्ञा से परिज्ञेय, उपद्युत तथा उपसृष्ट है। ऐसा देखने वाला आर्यश्रावक ही विमुक्त हो सकता है और जान सकता है कि यह मेरा अंतिम जन्म है।[7]

1. वही, 7
2. वही, 7
3. वही, 7
4. वही, 15
5. वही, 18
6. वही, 24-26
7. वही, 27-31

अविज्जा वग्ग के सुत्तों में भगवान ने कहा है कि रूपों का आस्वाद मैंने खोजा। रूपों का जो आस्वाद है उसे मैंने जाना, प्राप्त किया। जहाँ तक रूपों का आस्वाद था, मैंने प्रज्ञा से अच्छी तरह जाना, देखा, रूपों के खतरे की भयावहता को मैंने खोजा। रूपों की जो भयावहता या इसके खतरे हो सकते हैं, मैंने प्रज्ञाँ से अच्छी तरह जाना। रूपों का निस्सरण मैंने खोजा। रूपों का जो निस्सरण है उसे मैंने जाना। रूपों से निस्सरण हो सकता है उसे मैंने जाना। शब्दों का, गंधों का, रसों का, स्प्रष्टव्यों का, धर्मों का, भिक्षुओ, मैंने आस्वाद खोजा। धर्मों का जो आस्वाद है उसे मैंने खोजा, उसे जाना, प्राप्त किया। जहाँ तक धर्मों का आस्वाद हो सकता था, मैंने प्रज्ञा से अच्छी तरह जाना। धर्मों की भयावहता और निस्सरण को खोजा और प्राप्त किया। जहाँ तक इनकी भयावहता, खतरे और निस्सरण हो सकते हैं उनको मैंने प्रज्ञा से ठीक से जाना।[1]

भिक्षुओ, जब तक मैंने इन छः बाहरी आयतनों के आस्वाद को आस्वाद के तौर पर, खतरे, भयावहता को खतरे, भयावहता के तौर पर, निःसरण को , निःसरण के तौर पर यथाभूत (यथार्थतः) न जान लिया तब तक मैंने.....अपने को सम्यक संबुद्ध होने का दावा नहीं किया। ज्ञान का दर्शन, मुझे हो गया अर्थात मैं जान गया, मेरी विमुक्ति अचल है, यह मेरा अन्तिम जन्म है, अब मेरा पुनर्जन्म नहीं होगा।

भिक्षुओं, अगर चक्षु में आस्वाद न होता तो प्राणी इसमें अनुरक्त नहीं होते। चूंकि इसमें आस्वाद है इसलिए प्राणी इसमें अनुरक्त होते हैं। भिक्षुओ, अगर चक्षु में खतरा (भयावहता) न हो तो प्राणी इससे निर्वेद नहीं पाते। चूंकि इसमें खतरा (भयावहता) है इसलिए प्राणी इसमें निर्वेद पाते हैं। भिक्षुओ अगर चक्षु में निःसरण न होता तो प्राणी इससे निःसृत नहीं होते। चूंकि इससे निःसरण है, इसलिये प्राणी इससे निःसृत होते हैं।

मिगजाल वग्ग के सुत्तों में तृष्णा के जाल में फंसे भिक्षु को चाहे वे किसी शांत वन में ही क्यों न वास करते हों, सद्वितीय बिहारी कहा गया है और घनी आबादी वाले गाँव के बीच रहने वाले भिक्षु को एक बिहारी जो तृष्णा और संयोजन से मुक्त हैं।[2]

उपसम सन्दिट्ठिक सुत्त में सांदृष्टिक धर्म के गुण बताये गये हैं। यह धर्म सांदृष्टिक होता है, अकालिको होता है अर्थात् तुरत फल देने वाला, जो धारे उसको

1. वही, 32-33
2. वही, 40

शीघ्र अनुभव कराने वाला, एहिपस्सिको, निर्वाण की ओर ले जाने वाला ओपनेय्यिको तथा विज्ञों द्वारा अलग वैयक्तिक रूप से जाने जाने योग्य है।

गिलान वग्ग के राध से संबंधित सुत्तों में यह बताया गया है कि चक्षु रूप, चक्षु विज्ञान, चक्षु संस्पर्श और चक्षु संस्पर्शजा वेदना अनित्य, दुःख एवं अनात्म हैं। इन धर्मों की अनित्यता देख लेने से अविद्या का नाश होता है और विद्या की उत्पत्ति होती है।[1]

सळ वग्ग में भगवान ने भिक्षुओं को बताया कि छः स्पर्शायतन (अर्थात् चक्षुस्पर्शायतन आदि) अगर दान्त न हो तो दुःख देते हैं और जब ये ही सुदान्त हो जाते हैं तो सुख देते हैं।[2]

मालुक्यपुत्त सुत्त में भगवान ने मालुक्य पुत्र को उपदेश दिया कि जब देखे, सुने, सूंघे, चखे, छुए और जाने जाने योग्य धर्मों में देखना मात्र रहता है, सुनने पर सुनना मात्र, सूंघने पर सूंघना मात्र, चखने पर चखना मात्र, छूने पर छूना मात्र और जानने पर जानना मात्र रहता है तो इनमें किसी के भी प्रति आसक्त होने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। इसलिए उसे दुःख नहीं होता।[3]

इस प्रकार आसक्ति से जब कोई व्यक्ति दूर रहता है तो वह उसमें लिप्त नहीं होगा, लिप्त नहीं होने से वह उस जैसा नहीं होता, उस जैसा होने पर न यहाँ न परलोक में और न कहीं दोनों के बीच ठहरता है। इस तरह दुःख का अन्त हो जाता है।[4]

उदक सुत्त में वेदगू और सर्वजित की परिभाषा दी गई है। जो छः आयतनों के समुदय, अस्तगमन, आस्वाद, दोष और निःसरण को यथार्थतः जानता है वह वेदगू है और जो इन्हें इस प्रकार जानकर उपादान रहित हो विमुक्त हो जाने वाला है वह सर्वजित कहलाता है।[5]

कौन दुःख की जड़ को खोद लेता है? चार महाभूतों से बना हुआ शरीर दुःख है और तृष्णा दुःख का मूल है। जो इस बात को समझ लेता है और जिसकी सारी तृष्णा प्रहीण हो जाती है–उच्छिनमूल, सिरकटे ताड़ के समान, उसी व्यक्ति के बारे में यह कहा जा सकता है कि उसने दुःख के मूल को खोद दिया है।

---

1. वही, 53-56
2. वही, 75
3. वही, 78
4. वही, 78-79
5. वही, 89

योगक्खेमि वग्ग में भगवान ने भिक्षुओं को बताया कि छः बाह्य आयतन जब छः अन्दर के आयतनों के संपर्क में आते हैं तो वे बड़े मोहक और लुभावने लगते हैं। जब तक उनके प्रति छन्दराग का प्रहाण नहीं हो जाता तब तक दुःख की उत्पति होती ही रहती है क्योंकि आन्तरिक और बाह्य आयतनों के स्पर्श से वेदना होती है और वेदना से तृष्णा। इसलिए भगवान बुद्ध ने ऐसा योग किया जिसके फलस्वरूप तृष्णा होती ही नहीं थी तो दुःख कैसे होता। इसलिये उनको योगक्षेमी कहा गया।

इन छः आयतनों के होने से इनके प्रति उपादान करने से भीतरी सुख दुःख होता है। इनके प्रति अभिनिवेश करने से अस्मिता का भाव आता है। फिर बड़ा, छोटा और बराबर होने का भाव पैदा होता है। पर जब आर्य श्रावक इनकी अनित्यता, दुःखता तथा अनात्मता देखकर इनसे निर्वेद पा लेता है तो वह विरक्त हो जाता है। तो उसे विमुक्ति मिलती है और विमुक्ति होने का ज्ञान भी उसे होता है। जन्म समाप्त हुआ ब्रह्मचर्यवास पूरा हुआ, जो करना था सो कर लिया इससे परे यहाँ अब कुछ करना नहीं है अर्थात नहीं आना है।

इन सुत्तों में छः आन्तरिक और छः बाहरी आयतनों के अतिरिक्त प्रतीत्य-समुत्पाद की कुछ कड़ियों पर भी प्रकाश पड़ता है जैसे **फस्स पच्चया वेदना, वेदना पच्चया तण्हा और तण्हा पच्चया उपादानं।**

ये बारह आयतन संयोजनीय अथवा उपादानीय धर्म हैं और इनके प्रति होने वाला छन्दराग संयोजन अथवा उपादान।[1]

लोक कामगुण वग्ग, गहपतिवग्ग, देवदहवग्ग, नवपुराणवग्ग, नन्दिक्खय वग्ग, सट्ठिपेय्याल, समुद्दवग्ग आसीविस वग्ग के सुत्तों में आयतनों के ही बारे में विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार किया गया है। वेदना संयुक्त के सुत्तों में वेदना के बारे में विशद चर्चा है। वेदनाएँ तीन प्रकार की होती हैं- सुखद, दुःखद और अदुःखद-असुखद।

तिस्सो इमा, भिक्खवे, वेदना। कतमा तिस्सो! सुखा वेदना, दुक्खा वेदना, अदुक्खम सुख वेदना।[2]

सुख वेदना के रागानुशय को प्रहीण करना चाहिये, दुःख वेदना के प्रतिघानुशय को प्रहीण करना चाहिये और अदुक्खसुख वेदना के अविद्यानुशय को प्रहीण करना

1. वही, 93-98
2. वही, 203

चाहिए तभी तृष्णा का समूलोच्छेद हो सकता है और सारे संयोजन कट सकते हैं तथा सारे दुःखों का अंत हो सकता है।[1]

इस संयुत्त के अनिच्च सुत्त में तीनों वेदनाओं को अनित्य, संस्कृत, प्रतीत्यसमुत्पन्न, क्षयधर्मा, वयधर्मा, विरागधर्मा तथा निरोधधर्मा कहा गया है।[2]

ये वेदनाएँ स्पर्श से उत्पन्न होती हैं। स्पर्श ही इनका प्रत्यय है। सुखवेदनीय स्पर्श के प्रत्यय से सुखद वेदना, दुःखवेदनीय स्पर्श के प्रत्यय से दुःखद वेदना, तथा अदुःखद असुखद स्पर्श के प्रत्यय से अदुःखद-असुखद वेदना उत्पन्न होती है। स्पर्श से यह उत्पन्न होती है, उसी स्पर्श के निरोध से इनका निरोध भी हो जाता है।[3]

सुखद वेदना को दुःख के तौर पर, दुःखद वेदना को घाव के तौर पर और अदुःखद असुखद वेदना को अनित्य के तौर पर जानना चाहिए। जो इन्हें इस प्रकार जान लेता है वह तृष्णा को काट, संयोजनों को हटाकर, दुःख का अंत करता है।

सुखा, भिक्खवे, वेदना दुक्खतो दट्ठब्बा। दुक्खा वेदना सल्लतो दट्ठब्बा अदुक्खमसुखा वेदना अनिच्चतो दट्ठब्बा।[4]

अज्ञानी और ज्ञानी पुरुष में यही अंतर है कि अज्ञानी दुःखद वेदना से पीड़ित हो शोक या क्रंदन करता हुआ सम्मोह को प्राप्त होता है तथा दो प्रकार की वेदनाएँ कायिक और मानसिक अनुभव करता है। परंतु ज्ञानी व्यक्ति दुःखद वेदना से अभिभूत नहीं होता और वह केवल शारीरिक वेदना अनुभव करता है।[5]

वेदना संयुत्त के रहोगत वग्ग में कहा गया है कि तीनों प्रकार की वेदनाओं का समुदय स्पर्श से होता है और स्पर्श के निरोध से वे भी निरुद्ध हो जाती हैं।

सुख सौमनस्य वेदना का आस्वाद है इसका अनित्य दुःख और परिवर्त्तनशील होना आदीनव है (भयावह है, खतरा है) और वेदना के प्रति छंदराग को दूर करना इसका प्रहाण है। यही वेदना का निस्सरण है।[6]

इस वग्ग के **भिक्खु सुत्त** में तथा अट्ठसत परियाय वग्ग में **अट्ठसतसुत्त** में

---

1. वही, 203
2. वही, 211
3. वही, 212
4. वही, 204
5. वही, 205
6. वही, 217

वेदना को अलग-अलग दृष्टिकोण से समझाया गया है। वेदनायें दो प्रकार की होती हैं, तीन भी, छ: भी, अठारह भी, छत्तीस भी और एक सौ आठ भी।[1] छ: सौमनस्य छ: दौर्मनस्य एवं छ: उपेक्खा, कुल अठारह हुये। गृहस्थों और संन्यासियों के भेद से ये छत्तीस हुये और तीनों कालों के भेद से 108 प्रकार के हुये।

इस तरह हम देखते हैं कि वेदना संयुक्त में वेदनाओं की चर्चा है जो अभिधम्म में विस्तार से वर्णित है।

जम्बुखादक संयुत्त के सुत्तों में निर्वाण, अर्हत्व, वेदना, अविद्या, ओघ, भव, सत्काय, आस्रव, तृष्णा, उपादान तथा दु:ख के बारे में जम्बुखादक परिव्राजक के पूछने पर आयुष्मान सारिपुत्त ने उनका उत्तर दिया। साथ ही यह भी कहा कि अर्हत्व की प्राप्ति, निर्वाण का साक्षात्कार, अविद्या तृष्णा आदि के प्रहाण के लिये आर्य अष्ट्यंगिक मार्ग ही सबसे सुंदर है।[2]

मोग्गल्लान संयुत्त के सुत्तों में चार रूपावचर ध्यानों तथा चार अरूपावचर ध्यानों एवं वितर्क, विचार, पीति आदि ध्यानांगों की बात कही गयी है।[3]

चित्त संयुत्त के **संयोजन सुत्त** में समझाया गया है कि बंधन वहां होता है जहां छन्द राग होता है। रूपों का संयोजन नहीं होता, उसी तरह श्रोत्र शब्दों का, घ्राण गंधों का, जिह्वा रसों का, काया स्प्रष्टव्यों का तथा मन धर्मों का संयोजन नहीं होता, बल्कि इनके प्रत्यय से जहाँ राग की उत्पत्ति होती है, वहां बंधन होता है। जैसे दो बैल यदि एक रस्सी से बंधे हों तो बैल का बंधन बैल नहीं होता, पर उनका बंधन रस्सी होती है, उसी तरह दोनों के प्रत्यय से उत्पन्न राग बंधन का कारण है।[4]

पठम इसिदत्त सुत्त में अठारह धातुओं को गिनाया गया है। इसी में यह भी व्याख्यायित किया गया है कि अनेक मिथ्या दृष्टियों का जन्म सत्काय दृष्टि से ही होता है।[5]

दुतिय काम भू सुत्त में संज्ञावेदयित निरोध को समझाया गया है। कहा गया है कि इस अवस्था में सर्वप्रथम वची संस्कार का निरोध होता है, फिर काय संस्कार और अन्त में चित्त संस्कार का।[6]

---

1. वही, 224-226
2. वही, 246-254
3. वही, 257-261
4. वही, 276
5. वही, 276
6. वही, 283

सञ्ञावेदयित निरोधसमापज्जन्तस्स, खो, गहपति, भिक्खुनो वची सङ्खारो पठमं निरुज्झति, ततो कायसङ्खारो, ततो चित्तसङ्खारोति।[1]

संज्ञावेदयित निरोध अवस्था को प्राप्त व्यक्ति तथा मृत व्यक्ति में यह अंतर है कि मृत व्यक्ति का काय, वची तथा चित्त सङ्खार निरुद्ध हो जाता है, शांत हो जाता है, उसकी आयु परीक्षीण हो जाती है, देह की गर्मी समाप्त हो जाती है, अर्थात् देह शीतल हो जाती है और इन्द्रियाँ बिल्कुल काम नहीं करतीं। लेकिन जिस व्यक्ति ने संज्ञा वेदायित निरोध की अवस्था प्राप्त की है उसके तीनों संस्कार तो निरुद्ध होकर शांत हो जाते हैं, पर आयु परिक्षीण नहीं हुई रहती है, शरीर में गर्मी रहती है और इन्द्रियाँ स्वस्थ रहती हैं।[2]

असङ्खत संयुत्त में असंस्कृत क्या है तथा असंस्कृत गामी मार्ग क्या है- इनके बारे में बताया गय है। रागक्षय, द्वेषक्षय एवं मोहक्षय, असंस्कृत है और कायगता सति असंखतगामी मार्ग है। समथ और विपस्सना भी असंखतगामी मार्ग है।[3] सवितक्क सविचार समाधि, अवितक्कविचारमत्तो समाधि, सुञ्ञतो समाधि, अनिमित्तो समाधि, अप्पणिहितो समाधि, चत्तारो सतिपट्ठाना, चत्तारो सम्मप्पधाना, चत्तारो इद्धिपादा, पञ्चिन्द्रियानि, पञ्चबलानि, सत्त बोज्झंगा, अरियो अट्ठङ्गिको मग्गो असङ्खतगामी मार्ग है।[4] फिर कहा गया कि विपश्यना असङ्खतगामी मार्ग है।

अव्याकत संयुत्त में इन अव्याकत प्रश्नों के बारे में खेमा भिक्खुनी ने राजा प्रसेनजित को बताया है।

मग्ग संयुक्त में अष्टांगिक मार्ग के बारे में विस्तार से बताया गया है। इसको ब्रह्मयान, धर्मयान तथा अनुत्तर संग्राम विजय भी कहते हैं।

इस मार्ग पर चलने का अंतिम उद्देश्य राग, द्वेष और मोह का क्षय करना है।

राग, द्वेष और मोह के क्षय को अमृत कहते हैं और आर्य अष्टांगिक मार्ग अमृतगामी मार्ग है।

यो खो, भिक्खु, रागक्खयो, दोसक्खयो, मोहक्खयो-इदं वुच्चति अमतं। अयमेव अरियो अट्ठङ्गिको मग्गो अमतगामिमग्गो।[5]

---

1. वही, 285
2. वही, 285
3. वही, 334
4. वही, 334-41
5. सं. नि. महावग्ग 3.8

विभङ्ग सुत्त में इस मार्ग के आठों अंगों को परिभाषित किया गया है। जैसे **दुक्खे ञाणं, दुक्खसमुदये ञाणं, दुक्ख निरोधे ञाण, दुक्खनिरोधगामिनिया पटिपदाय ञाणं–अयंवुच्चति, भिक्खवे, सम्मा दिट्ठि।**[1]

इसी तरह और अंगों को भी विस्तार से परिभाषित किया गया है।

इन आठ धर्मों की भावना तथा बहुलीकरण से निर्वाण का अधिगम (प्राप्ति) किया जा सकता है। **अट्ठिमे खो, नन्दिय, धम्मा भाविता बहुलीकता निब्बानङ्गमा होन्ति निब्बानपरायना निब्बानपरियोसाना।**[2]

बिहार वग्ग तथा मिच्छत्तवग्ग के सुत्तों में मिथ्यामार्ग और सम्यक मार्ग का भेद बतलाया गया है। मिथ्यामार्ग राग, द्वेष मोह की ओर ले जाने वाला है और सम्यक मार्ग उनके क्षय की ओर, निर्वाण की ओर।[3]

पटिपत्ति वग्ग में भगवान बुद्ध ने अष्टांगिक मार्ग का अनेक पर्याय से विवेचन किया है। यह मार्ग सम्यक प्रतिपत्ति है और इस पर चलने वाला व्यक्ति सम्यक प्रतिपन्न। इस पथ पर चलने वाला व्यक्ति ही श्रामण्य, ब्राह्मण्य और ब्रह्मचर्यत्व प्राप्त कर सकता है। इसी पर चलने का फल होता है कि कोई श्रोतापत्ति, कोई सकृदागामी, कोई अनागामी तथा कोई अर्हत बन सकता है।

सूरिय पेय्याल- वग्ग में अष्टांगिक मार्ग के कुछ पूर्व लक्षण गिनाये गये हैं। कल्याण मित्र का मिलना पहला लक्षण है। फिर शील संपदा, छंद संपदा, आत्म-संपदा, सम्यक दृष्टि सम्पदा, अप्रमाद संपदा एवं सम्यक रूप से चिंतन मनन करने की संपदा। कल्याण मित्र के संपर्क में आया हुआ व्यक्ति विवेक, विराग तथा निरोध का आश्रय लेकर आर्य अष्टांगिक मार्ग के विभिन्न अंगों को भावित एवं बहुलीकृत करता है। इसका परिणाम यह होता है कि उसके राग, द्वेष और मोह सर्वथा प्रहीण हो जाते हैं।[4]

गंगा पेय्याल वग्ग के सुत्तों में भगवान ने कहा है कि जैसे गंगा- यमुना आदि नदियाँ समुद्रगामिनी हैं, वैसे ही आर्य अष्टांगिक मार्ग की भावना यदि विवेक, विराग और निरोध का आश्रय लेकर किया जाये तो वह निश्चित ही निर्वाण की ओर ले जाता है।[5]

---

1. वही, 8-9
2. वही, 11
3. वही, 12-21
4. वही, 29
5. वही, 35-36

अप्पमाद पेय्याल वग्ग में अप्रमाद की विशेषता कई उपमाओं के द्वारा बतायी गई है।

बलकरणीय वग्ग में भगवान ने शील के महत्व पर प्रकाश डाला है। जिस तरह जो भी कर्म बल से किये जाते हैं वे सभी पृथ्वी पर खड़े होकर, प्रतिष्ठित होकर किये जाते हैं, उसी तरह आर्य अष्टांगिक मार्ग की भावना भी शील पर प्रतिष्ठित होकर करनी चाहिए- **सीले पतिट्ठाय**- ऐसा करने वाला व्यक्ति विवेक, विराग और निरोध का आश्रय लेकर निर्वाण की ओर अग्रसर होता है।[1] वह व्यक्ति सभी अकुशल धर्मों को छोड़ देता है और उसके चारों स्मृति प्रस्थान, चारों सम्यक प्रधान, चारों ऋद्धियां, पांचों इन्द्रिया, पांचों बल और सातों बोध्यंग पूरी तरह भावित होते हैं।[2]

आर्य अष्टांगिक मार्ग पर चलने वाला व्यक्ति ज्ञानपूर्वक जानने योग्य धर्मों को ज्ञानपूर्वक जानता है। (**ये धम्मा अभिञ्ञा परिञ्ञेय्या, ते धम्मे अभिञ्ञा परिजानाति**) ज्ञानपूर्वक त्यागने योग्य धर्मों का ज्ञानपूर्वक त्यागता है। (**ये धम्मा अभिञ्ञा पहातब्बा, ते धम्मे अभिञ्ञा पजहति**) ज्ञान पूर्वक साक्षात्कार करने योग्य धर्मों को ज्ञानपूर्वक साक्षात्कार करता है (**ये धम्मा अभिञ्ञा सच्छिकातब्बा, ते धम्मे अभिञ्ञा सच्छिकरोति**) और ज्ञानपूर्वक भावित किये जाने योग्य धर्मों को ज्ञानपूर्वक भावित करता है (**ये धम्मा भावेतब्बा, ते धम्मे भावेति**)[3]

ज्ञानपूर्वक जानने योग्य धर्म हैं- रूप, वेदना आदि पांच उपादान स्कंध, ज्ञानपूर्वक त्यागने योग्य धर्म हैं अविद्या और भवतृष्णा, ज्ञानपूर्वक साक्षात्करणीय धर्म हैं विद्या और विमुक्ति और ज्ञानपूर्वक भावित करने योग्य धर्म हैं- शमथ और विपश्यना।

एसनावग्ग में तीन एषणाओं, तीन अहंकारों, तीन आश्रवों, तीन भवों, तीन दु:खताओं, तीन मलों, तीन वेदनाओं, तीन तृष्णाओं की चर्चा है।[4]

ओघ वग्ग के सुत्तों में भगवान ने चार बाढ़ों, चार योगों, चार उपादानों, सात अनुशयों, पांच नीवरणों, पांच ओरम्भागिय संयोजनों, पांच उर्ध्वभागीय संयोजनों आदि की चर्चा की है। साथ ही भगवान ने यह भी बताया कि इन सबों के प्रहाण के लिये आर्य अष्टांगिक मार्ग की भावना अवश्य करनी चाहिये।

बोज्झंग संयुत्त में सात बोध्यंगों के बारे में कहा गया है। इनकी ठीक से भावना

---

1. विवेक निस्सितं, विराग निस्सितं निरोध निस्सितं वोस्सग्ग परिणामिं। वही, 35
2. वही, 60
3. वही, 62
4. वही, 64-74

करने से संयोजनीय धर्मों का प्रहाण होता है। विवेक, विराग और निरोध का आश्रय लेकर सति सम्बोज्झंग की भावना विपुलता से करने पर तृष्णा का प्रहाण होता है। तृष्णा के प्रहाण से कर्म का प्रहाण, कर्म के प्रहाण से दु:ख का प्रहाण होता है। इसी तरह और बोध्यंगों के बारे में भी जानना चाहिये।[1]

सात बोध्यंगों की भावना करने से मार पर विजय प्राप्त की जा सकती है। जैसे चक्रवर्ती के सात रत्न होते हैं, वैसे ही आर्यश्रावक के लिये सात बोध्यंग हैं। इनकी भावना से विद्या और विमुक्ति मिलती है।

नीवरण वग्ग में पांच नीवरणों की चर्चा है। भगवान ने कहा है कि कैसे ये नीवरण लोगों को अंधा बना देते हैं।

आनापान वग्ग में कहा गया है कि यदि कोई अस्थिक संज्ञा, पुलवक संज्ञा, आदि तथा मैत्री, करुणा, उपेक्षा तथा आनापान को भावित करे तो या तो उसे इसी जीवन में निर्वाण की प्राप्ति होगी या कुछ उपादान शेष रहने पर अनागामिता।

सतिपट्ठान संयुत्त के सुत्तों में चार सतिपट्ठानों के महत्व के बारे में बताया गया है। उद्योगशील, स्मृतिमान और संप्रज्ञानी रहकर इनकी भावना करने से कुशल धर्मों की वृद्धि होती है, सद्धर्म की वृद्धि होती है। निर्वेद, विराग, निरोध, उपशम, अभिज्ञा, संबोधि और निर्वाण की प्राप्ति होती है। इन्हें भावित कर कोई अपार को भी पार कर सकता है।

इस तरह हम देखते हैं कि इन संयुत्तों में अभिधम्म के ही तत्व बिखरे पड़े हैं।

इन्द्रिय संयुत्त में पांच इन्द्रियों के बारे में भगवान ने बतलाया है। जो आर्य श्रावक इनके समुदय, अस्तगमन, आस्वाद, भयावहता (खतरा) और इनसे निस्सरण को यथार्थ रूप से जानता है वह श्रोतापन्न कहलाने लगता है।

जो ऐसा जानता है वह उपादान रहित होकर विमुक्त हो जाता है तथा अर्हत कहलाता है। यही श्रमण का श्रामण्य और ब्राह्मण का ब्राहण्य है।

भगवान ने पुन: बताया कि चार सोतापत्ति अंगों में श्रद्धा इन्द्रिय देखी जाती है, चार सम्यकप्रधानों में वीरिय इन्द्रिय, चार स्मृतिप्रस्थानों में स्मृति इन्द्रिय, चार रूपावचर ध्यानों में समाधि इन्द्रिय और चार आर्य सत्यों में प्रज्ञा इन्द्रिय देखी जाती है।[2]

श्रोतापत्ति के चार अंग है- बुद्ध धर्म और संघ में श्रद्धा का होना तथा आर्यो के

1. वही, 106
2. सं. नि., 3.275-276

जो प्रिय शील हैं उनमें श्रद्धा का होना। एक और प्रकार से श्रोतापत्ति के चार अंग गिनाये गये हैं- सत्पुरुष सेवन, सद्धर्म श्रवण, योनिसो मनसिकार तथा धर्मानुधर्म प्रतिपत्ति।

बुद्ध के बुद्धत्व में श्रद्धा को श्रद्धा इन्द्रिय, चार सम्यक प्रधानों में वीर्य के होने को वीर्यइन्द्रिय, चार स्मृति प्रस्थानों में स्मृति के होने को स्मृति इन्द्रिय, आर्य श्रावक द्वारा निर्वाण को आलम्बन् कर समाधि इन्द्रिय और धर्मों को प्रज्ञा इन्द्रिय कहते हैं।[1]

इन्द्रिय वग्ग के सुत्तों में छः प्रकार के इन्द्रियों को बताया गया है- चक्षु, श्रोत, घ्राण, जिह्वा, काय और मन। इनके समुदय, अस्तगमन, आस्वाद, इनकी भयावहता या इनका खतरा और इनसे निःसरण को यथार्थतः जानने से ही आर्य श्रावक दुःखों से विमुक्त होकर निर्वाणलाभी हो सकता है।

इसी वग्ग में भगवान ने स्त्री-इन्द्रिय, पुरुष-इन्द्रिय तथा जीवित इन्द्रिय के बारे में बताया है।[2]

सुखिन्द्रिय वग्ग में एक तीसरे प्रकार से पांच इन्द्रियों को कहा गया है। सुखिन्द्रिय दुक्खिन्द्रिय, सोमनस्स्सिन्द्रिय, दोमनस्सिन्द्रिय, उपेक्खिन्द्रिय।

ये इन्द्रियां कैसे उत्पन्न होती हैं तथा इनका कैसे निरोध होता है-यह भी इस वर्ग में बताया गया है। सुख वेदनीय स्पर्श के प्रत्यय से सुख इन्द्रिय उत्पन्न होती है। और इसका निरोध तृतीय ध्यान में होता है। दुःख वेदनीय स्पर्श के प्रत्यय से दुःख इन्द्रिय उत्पन्न होती है जिसका निरोध प्रथम ध्यान में हो जाता है। सौमनस्य वेदनीय स्पर्श के प्रत्यय से सौमनस्य इन्द्रिय की उत्पत्ति होती है और इसका निरोध चतुर्थ-ध्यान में होता है। दौर्मनस्य वेदनीय स्पर्श के प्रत्यय से दौर्मनस्य इन्द्रिय की उत्पति होती है जिसका निरोध प्रथम ध्यान में हो जाता है। सौमनस्य वेदनीय स्पर्श के प्रत्यय से सौमनस्य इन्द्रिय की उत्पत्ति होती है और इसका निरोध चतुर्थ ध्यान में होता है। दौर्मनस्य वेदनीय स्पर्श के प्रत्यय से दौर्मनस्य इन्द्रिय की उत्पत्ति होती है जिसका निरोध द्वितीय ध्यान में होता है। उपेक्षा वेदनीय स्पर्श प्रत्यय से उपेक्षा इन्द्रिय उत्पन्न होती है जिसका निरोध संज्ञा वेदयित निरोध की अवस्था प्राप्त हो जाने पर होता है।[3]

जैसे पांच इन्द्रियाँ हैं, वैसे ही पांच बल हैं और उनके भी नाम इन्द्रियों की तरह ही हैं। भगवान ने बताया कि जैसे नदी के बीच में द्वीप बन जाने पर एक दृष्टिकोण

1. वही, 272-276
2. वही, 280
3. वही, 290-291

से धारा एक ही होती है और दूसरे दृष्टिकोण से दो, उसी तरह श्रद्धा इन्द्रिय भी है और बल भी। उसी तरह और इन्द्रियों के बारे में जानना चाहिये।

भगवान ने इन्द्रिय की महिमा बताते हुए कहा कि एक भी इन्द्रिय को भावित और बहुलीकृत करने से कोई श्रीणाश्रव हो परम ज्ञान प्राप्ति की घोषणा कर सकता है –'जन्म समाप्त हुआ, ब्रह्मचर्यवास पूरा हुआ, जो करना था सो कर लिया, अब इससे परे आना नहीं। अब कुछ करना शेष नहीं'। यह प्रज्ञा इन्द्रिय है। इसी तरह और इन्द्रियों को भावित करने से वैसी अवस्था पर पहुँचा जा सकता है।

सूकरखत वग्ग के सुत्तों में बोधिपक्षीय धर्मों में सबसे प्रथम स्थान प्रज्ञा इन्द्रिय को दिया गया है। बोधि को बताने वाले सभी पदों में प्रज्ञा इन्द्रिय हाथी के पैर की तरह अग्र है, बड़ा है।[1]

बोधिपक्षीय वग्ग के सुत्तों में भी कहा गया है कि पांच इन्द्रियों की भावना करने से संयोजनों का प्रहाण होता है, अनुशय का उन्मूलन होता है, मार्ग का परिज्ञान होता है तथा आश्रवों का क्षय होता है।[2]

गंगापेय्यालवग्ग में कहा गया है कि पांच इन्द्रियों की भावना करने से निर्वाण की प्राप्ति होती है।

सम्मप्पधान संयुत्त में यह कहा गया है कि चारों सम्यक प्रधान की भावना से निर्वाण की प्राप्ति होती है।

बलकरणीय वग्ग में पांच बलों की, एसनावग्ग में तीन एषणाओं तथा ओघ वग्ग में चार ओघों को ही पूर्व की तरह गिनाया गया है।

इद्धिपाद संयुक्त में चार इद्धिपादों का वर्णन है।

(1) छन्द समाधि-प्रधान संस्कार से युक्त ऋद्धिपाद

(2) वीर्य-समाधि प्रधान संस्कार से युक्त ऋद्धिपाद

(3) चित्त समाधि प्रधान संस्कार से युक्त ऋद्धिपाद और

(4) मीमांसा समाधि प्रधान संस्कार से युक्त ऋद्धिपाद।

जो आर्य श्रावक इन चार ऋद्धिपादों को ठीक से भावित नहीं करता उसका दुःख क्षय को प्राप्त नहीं होता। और जो इनकी भावना ठीक से करता है उसका दुःख क्षय को प्राप्त होता है और वह निर्वाण का अधिगम करता है।

---

1. वही, 305
2. वही, 310

इमे खो, भिक्खवे, चत्तारो इद्धिपादा भाविता बहुलीकता अरिया निय्यानिका निय्यन्ति तक्करस्स सम्मा दुक्खक्खयायाति।[1]

तथा इनकी ठीक से भावना करने पर एकान्त निर्वेद की प्राप्ति, विराग, निरोध, उपशम की प्राप्ति तथा अभिज्ञा संबोधि एवं निर्वाण की प्राप्ति होती है।

चारों इद्धिपादों को भावित करने से ही कोई बुद्ध होता है और तथागत अर्हत सम्यक सम्बुद्ध कहलाता है।

यहाँ यह भी कहा गया है कि आर्य अष्टांगिक मार्ग ही ऋद्धिपाद भावनागामी मार्ग है।

अनुरुद्ध संयुत्त में चार स्मृति प्रस्थानों (सतिपट्ठान) की चर्चा है। इनकी भावना करने से तृष्णा का क्षय अवश्य होता है। और इनकी भावना करने वाले को सांसारिक प्रलोभन डिगा नहीं सकते।

झान संयुत्त में चार प्रकार के ध्यानों (रूपावचर) की चर्चा हैं। साथ ही उनमें से प्रत्येक के ध्यानांग भी बताये गये हैं।

इन चारों ध्यानों की भावना करने से आर्यश्रावक निर्वाण की प्राप्ति करता है। आनापान संयुत्त में आनापान स्मृति धर्म के बारे में विस्तार से चर्चा है। इसकी भावना कल्याणकारी होती है।

एवं भाविता खो, भिक्खवे, आनापानस्सति एवं बहुलीकता महप्फला होति महानिसंसाति।

इसकी भावना करने से या तो इसी जीवन में निर्वाण लाभ हो सकता है, नहीं तो अनागामिता तो अवश्य प्राप्त होगी, यदि कुछ उपादान शेष रह गये हों तो।[2]

इसे भावित करने से इसी जीवन में सात फल सिद्ध होते हैं। इसी जीवन में निर्वाण की प्राप्ति अथवा मृत्यु के समय निर्वाण लाभ अथवा पांच अवरभागीय संयोजनों का क्षय होने से अंतरा- परिनिर्वाण अथवा उपहत्य परिनिर्वाण अथवा संस्कार परिनिर्वाण उर्ध्वश्रोत अकनिट्ठगामिता।[3]

आनापान स्मृति रूपी समाधि के भावित और परिपुष्ट होने पर जब भिक्षु को सुखद दु:खद अथवा अदु:खद असुखद वेदना होती है तब यह प्रज्ञा से जानता है कि

1. वही, 329
2. वही, 384
3. वही, 384-385

ये वेदनाएँ अनित्य हैं। इसलिये इनमें आसक्त नहीं होना चाहिये। वह अनासक्त होकर इनकी अनुभूति करता है। जानता है कि जब उसकी मृत्यु होगी, ये सारी वेदनायें यहीं ठंढी हो जायेंगी। जैसे तेल और बत्ती के रहने पर प्रदीप जलता है और न रहने पर बुझ जाता है उसी तरह शरीर के नहीं रहने पर ये वेदनाएँ भी शांत और शीतल हो जायेंगी।[1]

इस संयुत्त के सुत्तों में आनापान स्मृति रूपी समाधि के लाभों की चर्चा की गई है। इस समाधि को भावित और पुष्ट करने से शांत, सुंदर सुख विहार होता है और उत्पन्न होने वाले पापपूर्ण अकुशल धर्म उसी तरह दब जाते हैं, जैसे गर्मियों के पिछले मास में उड़ती हुई धूल अचानक खूब वर्षा हो जाने से दब जाती है।

आनंद से भगवान ने कहा कि किसी चौराहे पर का पड़ा धूल का ढेर जैसे चारों दिशाओं से आने-जाने वाली गाड़ियों के गुजरने से शनैःशनै कम हो जाता है उसी तरह कायानुपश्यना, वेदनानुपश्यना, चित्तानुपश्यना और धर्मानुपश्यना के करने से पाप-पूर्ण अकुशल धर्म कुछ न कुछ छंटते रहते हैं।

आनापान स्मृति रूपी समाधि को बढ़ाने से, पुष्ट करने से शैक्ष्य भिक्षुओं के आस्रवों का क्षय होता है। इस समाधि को आर्य विहार, ब्रह्म विहार या तथागत बिहार कहते हैं। शैक्ष्य विहार दूसरा है। **ये ते, भिक्खवे, भिक्खू सेखा अप्पत्तमानसा अनुत्तरं योगक्खेमं पत्थयमाना विहरन्ति, तेसं आनापानस्सति समाधि भावितो बहुलीकतो आसवानं खयाय संवत्तत्ति।**[2]

आनापान स्मृति समाधि को भावित एवं पुष्ट करने से चार स्मृति-प्रस्थान भावित एवं परिपुष्ट होते हैं। इन चारों के भावित एवं पुष्ट होने से सात बोध्यंग पूरे होते हैं और सात बोध्यंगों के भावित एवं पुष्ट होने से विद्याजन्य विमुक्ति पूरी हो जाती है।[3]

सोतापत्ति संयुत्त के **बेलुद्वारेय्य सुत्त** में यह उल्लिखित है कि जब वेलुद्वार के ब्राह्मण गृहपतियों ने भगवान से धर्म सुनना चाहा तो भगवान ने उन्हें सात बातें बतायीं जो कायिक और वाचिक शील से संबंधित हैं। ये शील हैं जीव हिंसा, चोरी, व्यभिचार न करना, झूठ न बोलना, चुगली न करना, कड़ी और रूखी बातें न कहना तथा व्यर्थ का प्रलाप न करना। इन्हें आत्मोपनयिक धर्म कहा गया है।

---

1. वही, 389-390
2. वही, 397
3. वही, 399

आत्मोपनयिक इसलिये कि कोई भी व्यक्ति यह नहीं चाहता कि ये सात उसके साथ हों, इसीलिये उसे भी दूसरों के साथ ये बातें नहीं करनी चाहिए।

राजकाराम वग्ग तथ सरणानिवग्ग के कई सुत्तों में चार महत्वपूर्ण धर्मों का महत्व बताया गया है। ये चार धर्म हैं- बुद्ध, धर्म तथा संघ के प्रति दृढ़ श्रद्धा और आर्यों के प्रिय शीलों को भावित करना। ऐसा करने से निर्वेद, विराग, निरोध, उपशम, अभिज्ञा संबोधि तथा निर्वाण की प्राप्ति होती है। इन धर्मों का पालन करने से घबराहट, कंपकंपी तथा मृत्यु से भय नहीं होता। ये धर्म निर्वाण की ओर ले जाने वाले होते हैं।

चतूहि खो, महानाम, धम्मेहि समन्नागतो अरियसावको निब्बाननिन्नो होति निब्बाणपोणो निब्बानपब्भारो।[1]

पुञ्ञाभिसन्द वग्ग में भी इन चार धर्मों के महत्व पर प्रकाश डाला गया है।[2] इसके लाभ असंख्य और अप्रमेय है। यही बात सगाथक पुञ्ञाभिसन्द वग्ग में बतायी गयी है।[3]

सच्च संयुक्त में चार आर्य सत्यों का वर्णन है। दुःख आर्यसत्य परिज्ञेय है, दुःख समुदय प्रहातव्य है, दुःख निरोध आर्यसत्य साक्षात्करणीय है और दुःख निरोध प्राप्त कराने वाला मार्ग भावेतव्य है।

खन्ध सुत्त में स्कन्धों की तथा अज्झत्तिकायतन सुत्त में छः आयतनों की चर्चा है। इन दोनों को भी भगवान ने दुःख आर्यसत्य बतलाया। पांच उपादानों के कारण हमारा अस्तित्व होता है। अतः हमारा अस्तित्व ही दुःख है। अर्थात दुःख अस्तित्वात्मक है। चार आर्यसत्यों के अनुबोध प्रतिवेध से भव तृष्णा का उच्छेद हो जाता है और भव रज्जु कट जाती है।

चार आर्य सत्यों को सम्यक प्रकार से जानना ही श्रमण का श्रामण्य है और ब्राह्मण का ब्राह्मण्य।[4] इनको ठीक तरह से जानने वालों के ही आस्रवों का क्षय होता है।[5]

चाय आर्यसत्यों का ज्ञान आदिब्रह्मचर्य, निर्वेद, विराग, निरोध, उपशम, अभिज्ञा, संबोधि अथवा निर्वाण के लिये उपयोगी है।

1. वही, 435
2. वही, 454-461
3. वही, 462
4. वही, 495
5. वही, 497

इस तरह हम देखते हैं कि इस संयुत्त में चार आर्य सत्यों के बारे में ही कहा गया है। इन आर्य सत्यों को ठीक से जाने बिना दु:खों का अन्त नहीं हो सकता। जो इन सत्यों को पूर्णतया जान लेते हैं, वे ही कठिन लक्ष्य को बींधने वाले जो दृष्टि सम्पन्न आर्यश्रावक हैं, उनके दु:ख का बड़ा अंश समाप्त हो चुका होता है और जो बचा रहता है, वह छोटा अंश है।

ऐसा लगता है कि संयुत्त निकाय के अधिकतर सुत्तों में, नहीं प्राय: सभी सुत्तों में अभिधम्म अर्थात् उच्चतर धर्म की ही बात बताई गई है।

षष्ठ अध्याय

अंगुत्तर निकाय सुत्त पिटक का चौथा निकाय है। इसमें सुत्तों की संख्या 2308 है तथा यह ग्यारह निपातों में विभक्त है। एक-एक निपात में वैसे-वैसे धर्मों को परिगणित किया गया है जिनमें किसी न किसी प्रकार का साम्य है। जैसे एकक निपात में एक धर्म की चर्चा है, द्विक निपात में दो-दो धर्मों की। हम यहाँ सिर्फ वैसे धर्मों की चर्चा करेंगे जिनका संबंध अभिधम्म से है।

एकक निपात के नीवरणवग्ग में कहा गया है कि 'शुभनिमित्त' एक ऐसा धर्म है जिसके अनुत्पन्न रहने पर भी कामच्छन्द उपजता है और जब उपजता है तो कामच्छन्द अधिक विपुल होता है। उसी तरह प्रतिघ निमित्त के अनुत्पन्न रहने पर भी ब्यापाद उपजता है और उत्पन्न होने पर यह ब्यापाद को बढ़ाता हे। अरति और तन्द्रा भी एक ऐसा धर्म है जो थीनमिद्ध को उत्पन्न करता है और बढ़ाता है। और अयोनिसोमनसिकार अर्थात् ठीक से चिंतन मनन न करना एक ऐसा धर्म है जो विचिकिच्छा अर्थात् विचिकित्सा को जन्म देता है और फलाता-फुलाता है। ठीक इनके विपरीत शुभ निमित्त, मेत्ता, पराक्रम धातु, चित्त की शांति एवं मनसिकार क्रमशः कामच्छन्द को, ब्यापाद को, थीनमिद्ध को, उद्धच्चकुकुच्च को, विचिकित्सा को न तो उत्पन्न करते हैं और न फलाते फुलाते हैं, बढ़ाते हैं।[1]

अकम्मनियवग्ग में चित्त के बारे में विस्तार से चर्चा है। अभावित चित्त अर्थात् असंयमित चित्त अकर्मणीय है, अनर्थकारी है, अनर्थ को बड़ा बनानेवाला है तथा अधिक अनर्थकारी है, दुःख देने वाला है। इसके विपरीत भावित और पुष्ट किया चित्त, बहुलीकृत चित्त कर्मणीय है, अर्थकारी है, अर्थ को बढ़ाने वाला है और सुख देने वाला है।

फिर कहा गया है कि अदान्त, अरक्षित एवं असंयमित (अनियंत्रित) चित्त अनर्थकारी है। ठीक इसके विपरीत दान्त, रक्षित एवं नियंत्रित चित्त अर्थकारी है, कल्याणकारी है, इससे बहुत अधिक अर्थ सिद्धि होती है, कल्याण होता है।

चित्त को अगर सम्यक रूप से न लगाया जाय अर्थात् इससे ठीक से न काम लिया जाय तो अविद्या का नाश नहीं हो सकता, विद्या पैदा नहीं की जा सकती।

1. अं. नि. एककनिपात 4-6

प्रदुष्ट चित्त वाला अवश्य नरकगामी होता है या दुर्गति को प्राप्त करता है। इसके विपरीत भावित, बहुलीकृत चित्त, मृदु एवं कर्मणीय होता है। इससे अविद्या का नाश कर विद्या पैदा की जा सकती है। चित्त बड़ा ही चंचल है। कितना चंचल है- इसके लिये उपमा ढूंढ़ना भी सहज नहीं है। **'नाहं, भिक्खवे, अञ्ञं एक धम्मम्पि समनुपस्सामि यं एवं लहुपरिवत्तं यथयिदं चित्तं। यावञ्चिदं, भिक्खवे, उपमापि न सुकरा याव लहुपरिवत्तं चित्तन्ति।**[1]

चित्त स्वाभाविक रूप से प्रभास्वर है। बाहर से आये उपक्लेशों से यह उपक्लिष्ट होता है।[2] जितने भी कुशल अथवा अकुशल धर्म हैं, वे सभी मन का अनुगमन करते हैं। मन ही पहले उत्पन्न होता है अर्थात् चित्त पहले और सब धर्म बाद में। जैसा धम्मपद में कहा गया है-

मनोपुब्बंगमा धम्मा, मनोसेट्ठा मनोमया।

यं केचि, भिक्खवे, धम्मा अकुसला, अकुसलभागिया अकुसलपक्खिका, सब्बे ते मनोपुब्बङ्गमा।[3]

कल्याणमित्तादि वग्ग में प्रज्ञा के बारे में कहा गया है। प्रज्ञा की हानि बड़ी हानि है। इस हानि की तुलना में सगे संबंधियों का न रहना, भोग-सामग्री का खो जाना कुछ नहीं है। इसके विपरीत प्रज्ञा की वृद्धि से कोई वृद्धि बड़ी नहीं है।[4]

पमादादिवग्ग में प्रमाद का दोष तथा अप्रमाद का गुण दिखाया गया है। प्रमाद अनर्थकारी है, अप्रमाद कल्याणकारी।

पमादो, भिक्खवे महतो अनत्थाय संवत्ततीति, अप्पमादो, भिक्खवे, महतो अत्थाय संवत्ततीति।[5]

इसी वग्ग में कोसज्ज वीरिय, महिच्छता, अप्पिच्छता, सन्तुट्ठिता- असन्तुट्ठिता, मनसिकार, अमनसिकार, सम्पजञ्ञं, असम्पजञ्ञं, पापमित्तता कल्याणमित्तता आदि दोष गुण भी बताये गये है।

अट्ठानपालि के दुतियवग्ग में यह कहा गया है कि कायदुश्चरित, वची दुश्चरित तथा मनोदुश्चरित वाले का विपाक इष्ट, कांत और मनाप कभी हो नहीं सकता।

1. वही, 12
2. वही, 12
3. वही, 13
4. वही, 18
5. वही, 19

इसके विपरीत कायसुचरित, वचीसुचरित तथा मनोसुचरित का विपाक अच्छा होगा ही। यहाँ हम अभिधम्म के तीन पारिभाषिक शब्दों के अतिरिक्त विपाक शब्द को भी देखते हैं जिसका अर्थ होता है कर्म फल।

कोई एक धर्म यदि निर्वेद, विराग, निरोध, उपशम, अभिज्ञा, संबोधि और निर्वाण प्राप्त करा सकता है तो वह है- बुद्धानुस्मृति अथवा धर्मानुस्मृति अथवा संधानुसमृति इत्यादि को भावित करना, बढ़ाना।[1] अनुस्मृतियाँ दस हैं। उपर्युक्त तीनों के अतिरिक्त शीलानुस्मृति, त्यागानुस्मृति, देवतानुस्मृति, आनापानस्मृति, मरणस्मृति, कायगतास्मृति और उपशमानुस्मृति है।

सम्यक मार्ग की तरह मिथ्यामार्ग के भी आठ अंग है। एक है मिथ्या दृष्टि। इसके चलते अनेक अनुत्पन्न अकुशल धर्म उत्पन्न होते हैं और अकुशल धर्मों की वृद्धि होती है। दूसरी ओर सम्यक दृष्टि से कुशल धर्म उत्पन्न होते हैं तथा इसकी वृद्धि होती है।

अपरअच्छरासंघात वग्गो में चार ध्यानों, चार ब्रह्मविहारों, चार स्मृति उपस्थानों, चार ऋद्धिपादों, पांच इन्द्रियों, पांच बलों, सात सम्बोध्यंगों, अष्यंगिक मार्ग, चार अरूपावचर ध्यानों, तीन लक्षणों (अनित्य, दुःख तथा अनात्म), दस अनुस्मृतियों को गिनाया गया है और भगवान ने कहा है कि जो इनका ध्यान या इनकी भावना करता है, वह ध्यानी है, व्यर्थ का राष्ट्र पिंड खाने वाला नहीं।

अयं वुच्चति भिक्खवे - भिक्खु अरित्तज्झानो विहरति सत्थुसासनकरो ओवादपटिकरो, अमोघं रटठपिण्डं भुञ्जति। को पन वादो ये नं बहुली करोन्तीति।[2]

कायगतास्मृति धर्म से होने वाले अनेक लाभों को कायगतासति वग्गो में दिखाया गया है। इस एक धर्म की भावना करने से, बढ़ाने से सभी विद्यापक्षीय धर्म भावित हो जाते हैं। इसकी भावना से अनुत्पन्न अकुशल धर्म नहीं उपजते और जो उत्पन्न हैं, उनका प्रहाण होता है। इसको भावित करने से जो कुशल धर्म उत्पन्न नहीं हुये हैं वे उत्पन्न होते हैं और जो उत्पन्न हैं वे फलते-फूलते हैं, अविद्या दूर होती है, विद्या उपजती है, अस्मिता का नाश होता है, अनुशयों का समूलोच्छेद होता है और संयोजनों का प्रहाण होता है।[3]

इसकी भावना से चारों फलों (स्रोतापत्ति फल, सकृदागामी फल, अनागामी

1. वही, 43
2. वही, 54-57
3. वही, 58-59

फल और अर्हत फल) की प्राप्ति होती है।[1] इस एक धर्म के पालन करने से, इस एक की भावना से प्रज्ञा बढ़ती है।[2] इस एक धर्म के पालन से अमृत की प्राप्ति होती है और इसकी भावना न करने से अमृत की प्राप्ति तो होती ही नहीं, यदि पूर्व से अमृत प्राप्त हुआ रहता है तो उसकी परिहानि हो जाती है।[3] दुकनिपात पालि के **तपनीय सुत्त**[4] और **अतपनीय सुत्त**[5] में कायिक सुचरित्र तथा दुश्चरित्र, वाचिक सुचरित्र तथा दुश्चरित्र, **संयोजन सुत्त**[6] में राग, द्वेष और मोह, **कण्हसुत्त**[7] में अहिरि और अनोत्तप्प तथा **सुक्कसुत्त**[8] में हिरि और ओतप्प की चर्चा है।

अधिकरण वग्ग के सुत्तों में तीन सुचरितों एवं तीन दुचरितों के अतिरिक्त दो बलों जैसे पटिसंखान बल तथा भावना बल, राग द्वेष एवं मोह तथा सात बोध्यंगों की परिगणना की गई है।

बाल वग्ग में समथ और विपस्सना के लाभ बताये गये हैं। समथ की भावना करने से चित्त की भावना होती है, जिससे राग का प्रहाण होता है और विपश्यना की भावना से प्रज्ञा भावित होती है, जिससे अविद्या का नाश होता है। इसलिए राग से विराग होने पर चेतोविमुत्ति और अविद्या से विराग होने पर पञ्ञाविमुक्ति कही जाती है।[9]

परिसवग्ग में आर्य परिषद के संदर्भ में बताया गया है कि जो चार आर्य सत्यों को जानता है वह आर्य-परिषद है।[10]

सुखवग्गो में कई दृष्टिकोणों से दो-दो प्रकार के सुत्तों की परिगणना तथा परिभाषा देकर नेक्खम्म, निरुपधि, सासव आदि आभिधम्भिक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया गया है।

धम्मवग्गो में चेतोविमुति, पञ्ञाविमुत्ति, नाम-रूप, विज्जा-विमुत्ति, भव दिट्ठि, विभव दिट्ठि, अहिरिक अनोत्तप आदि धर्मों का सूत्र रूप में उल्लेख है।[11]

1. वही, 59
2. वही, 60
3. वही, 61-62
4. वही दुकनिपात 65
5. वही, 66
6. वही, 67
7. वही, 67
8. वही, 68
9. वही, 77
10. वही, 87
11. वही, 100

आसादुप्पजह वग्गो के सुत्तों में रागोत्पति के दो प्रत्यय शुभ निमित्त एवं अयोनिसो-मनसिकार, द्वेषोत्पत्ति के दो प्रत्यय प्रतिघनिमित्त एवं अयोनिसोमनसिकार एवं मिथ्या दृष्टि की उत्पत्ति के दो प्रत्यय दूसरे की बात अयोनिसो मनसिकार से सुनना आदि बताये गये हैं।

समापत्ति वग्ग में आर्जव, मार्दव, शान्ति तथा विनम्रता (सोरच्च) इन्द्रिय संवर तथा भोजन में मात्रज्ञ होना, स्मृति बल तथा समाधि बल, समथ-विपस्सना, शील विशुद्धि एवं दृष्टि विशुद्धि, स्मृति एवं सम्प्रज्ञान आदि धर्मों के बारे में उल्लेख है।

कोधपेय्याल तथा रागपेय्याल मे कई अकुशल चेतसिक जैसे क्रोध, उपनाह, म्रक्ष, प्रदास, ईर्ष्या, मात्सर्य, माया, शठता, जड़ता, सारंभ, मान, अतिमान, मद तथा प्रमाद का उल्लेख है और कहा गया है कि इनके यथार्थ ज्ञान, परिज्ञान, परिक्षय, प्रहाण, क्षय, व्यय, विराग, निरोध, त्याग तथा प्रतिनिसर्ग के लिये समथ और विपश्यना की भावना करनी चाहिये।

तीसरे निपात में भी तीन-तीन धर्मों की चर्चा है। **लक्खण सुत्त** एवं **खत सुत्त** में तीन धर्म कायदुश्चरित्र, वची दुश्चरित्र एवं मनोदुश्चरित्र तथा, काय, वची एवं मनोसुचरित्र धर्मों का उल्लेख है। **आत सुत्त** में तीन प्रकार के कर्मों का उल्लेख है। काय कर्म, वचीकर्म एवं मनोकर्म।

पुग्गलवग्ग में विभिन्न प्रकार के पुद्गलों का उल्लेख है। पुग्गल पञ्ञति में विभिन्न प्रकार के पुद्गलों से इनका मेल है। **अरुकूपम चित्त पुग्गलो, विज्जुपम चित्त पुग्गलो, वजिरुपम चित्त पुग्गलो, गूथभाणी, पुप्फभाणी, मधुभाणी, अन्धो, एक चक्खु, द्विचक्खु, अवकुज्ज पञ्ञो पुग्गलो, उच्छङ्गपञ्ञो पुग्गलो, पुथुपञ्ञो पुग्गलो।**

अरुकूपम पुद्गल को वैसा पुद्गल कहा गया जिसके घाव से पीव आदि गिरता रहता है। ठीक इसी तरह इस चित्तवाले आदमी को शीघ्र क्रोध उत्पन्न हो जाता है और बहुत देर तक रहता है। विज्जूपमचित्त वाले पुद्गल चार आर्य सत्यों को अच्छी तरह जानता है। जैसे रात के अंधकार में बिजली चमकने से दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार इस पुद्गल को साफ-साफ चार आर्य सत्यों का ज्ञान होता है।

वजिरुपम चित्त वाले पुद्गल का आस्रव क्षीण हुआ रहता है और वह चित्त विमुक्ति और प्रज्ञा-विमुक्ति अपनी अभिज्ञा से प्राप्त कर विहरण करता है। उसके लिये अब कोई चीज अभेद्य नहीं होती है। जैसे वज्र मणि पाषाण का भेदन कर देता है, उसी तरह वह सभी आस्रवों का नाश कर देता है।

गूथभाणी पुरुष वह है जो न जानते हुये को 'जानता हूँ' ऐसा कहता है और जानते हुये को 'न जानता हूँ' ऐसा कहता है। इसी तरह वह देखे हुये को 'न देखे हुये' और 'न देखे हुए को' 'देखे हुए' कहता है। वह झूठ बोलता है।[1]

पुप्फभाणी पुरुष यह है जो जानते हुये को 'जानता हूँ' और न जानते हुये को 'नही जानता हूँ' तथा देखे हुये को 'देखा था' और न देखे हुये को 'न देखा था' ऐसा कहता है। अर्थात वह सत्य बोलता है।[2]

मधुभाणी पुद्गल कभी कठोर वचन एवं कड़वी बात नहीं करता। वह ऐसी वाणी बोलता है जो कर्णप्रिय, हृदय को स्पर्श करने वाली तथा नागर हो।

अंधा पुद्गल वह है जिसके पास ऐसी आंख नहीं है जिससे वह अनधिगत (अप्राप्त) धन को अधिगत (प्राप्ति) करे और प्राप्त धन की वृद्धि करे। वह यह नहीं जानता है कि कुशल और अकुशल, सावद्य और अनवद्य, हीन और प्रणीत तथा कृष्ण और शुक्ल कर्मों में क्या अन्तर है।

एक आंख वाला पुद्गल वह है जो अनधिगत धन को अधिगत कर उसकी वृद्धि करता है, पर वह उस आंख से हीन है जिससे वह कुशलाकुशल सावद्यानवद्य, हीन-प्रणीत एवं कृष्ण-शुक्ल धर्मों एवं कर्मों में अंतर जान सके।

इन दोनों से भिन्न है दो आंखवाला पुद्गल जो अनधिगत धन को अधिगत कर उसकी वृद्धि तो करता ही है, साथ ही साथ कुशल-अकुशल सावद्य-अनवद्य, हीन-प्रणीत और कृष्ण तथा शुक्ल कर्मो का अंतर समझता है।[3]

अवकुज्ज प्रज्ञावाला पुद्गल वह है जो बार-बार आराम जाकर भिक्खु से आदिकल्याणकारी, मध्यकल्याणकारी और पर्यवसान कल्याणकारी धर्म का श्रवण तो करता है पर वह उस पर ध्यान नहीं देता। धर्म उसके अन्दर वैसे ही प्रवेश नहीं करता जैसे- औंधे घड़े में पानी नहीं जाता और रहता।

उच्छङ्गपञ्ञो पुद्गल वह है जो बार-बार आराम जाकर भिक्षु से कल्याणकारी धर्म का श्रवण करता है तथा वहाँ धर्म के आदि, अन्त और पर्यवसान को याद भी रखता है लेकिन वहां से उठने के बाद वह धर्म भूल जाता है। ठीक उसी तरह जैसे कोई व्यक्ति स्मृति गंवा कर अपने उत्संग मे रखे नाना प्रकार के अनाजों को बिखेर दे।

---

1. वही तिकनिपात 150
2. वही, 150
3. वही, 151-152

पुथुपञ्ञो पुद्गल वह है जो बार-बार आराम जाकर भिक्खु से धर्म श्रवण करता है, वह धर्म जो अर्थ और व्यञ्जन सहित है और समझकर वहाँ याद भी रखता है, आसन से उठकर भी उसको भूलता नहीं और धर्म के आदि, मध्य और अवसान को याद रखता है। वह उस घड़े के समान है जो सीधा रखा है जिसमें पानी रह सकता है।[1]

देवदूत वग्ग के **निदान सुत्त** में अकुशल कर्मों की उत्पत्ति के तीन हेतु लोभ, द्वेष और मोह एवं कुशल कर्मों की उत्पत्ति के तीन हेतु-अलोभ अद्वेष और अमोह के बारे में कहा गया है।[2]

संस्कृत तथा असंस्कृत धर्मों में अन्तर बताने के क्रम में यह कहा गया है कि संस्कृत धर्मों के तीन लक्षण होते हैं उत्पत्ति, विनाश और परिवर्तन। इसके विपरीत असंस्कृत धर्मों की न तो उत्पत्ति होती है, न विनाश होता है और न परिवर्तन।[3]

अनुत्पन्न पापपूर्ण अकुशल धर्मों को उत्पन्न न होने देने के लिये, अनुत्पन्न कुशल धर्मों की उत्पत्ति के लिये तथा दु:खद तीव्र, कठोर, कटु, प्रतिकूल, बुरी, प्राणहर, शारीरिक वेदनाओं को सहन करने का प्रयत्न करना चाहिये।[4]

तिकण्णसुत्त[5] में त्रैविद्य की परिभाषा करते समय भगवान ने तीन विद्याओं के बारे में कहा है:- पूर्वजन्मों की अनुस्मृति, दिव्य चक्षु तथा आश्रवों के क्षय का ज्ञान। ये छः अभिज्ञाओं में से तीन हैं।

महावग्ग के **तित्थायतनादिसुत्त** में चार आर्यसत्यों की, दु:ख के प्रकारों की तथा प्रतीत्यसमुत्पाद के कड़ियों की जैसे **फस्सपच्चया वेदना, वेदनाच्चया तण्हा, फस्स निरोधा वेदनानिरोधो, वेदनानिरोधा, तण्हा निरोधो** अविज्जा पच्चया संखारा.....जाति पच्चया जरामरण सोक परिदेव दुक्ख दोमनस्सुपायासय आदि की विस्तार से चर्चा है।[6] पुनः यहाँ अष्टांगिक मार्ग की भी चर्चा है।

वेनागपुरसुत्त में विपश्यना तथा रूपावचर के चार ध्यानों का वर्णन है। भगवान

---

1. वही, 153-154
2. वही, 159
3. संङ्खतलक्खण सुत्तं एवं असंङ्खत लक्खन सुत्त 177
4. आतप्पकरणीय सुत्तं, 178
5. वही, 190
6. वही, 205-206

ने यह भी कहा है कि किस तरह उन्हें इस बात का ज्ञान हुआ कि उनके राग, द्वेष और मोह प्रहीण हो गये।[1]

अकुसलमूल सुत्त में तीन कुशलमूलों जैसे लोभ, द्वेष और मोह तथा तीन अकुशल मूलों जैसे अलोभ, अद्वेष और अमोह का वर्णन है।

आजीवक सुत्त में आनंद ने कहा है कि जो राग द्वेष और मोह के प्रहाणार्थ उपदेश करता है उसका धर्म सुआख्यात है, जो इनके प्रहाणार्थ मार्ग पर प्रतिपन्न है वह सुप्रतिपन्न है और जिसने इन तीनों का समूलोच्छेद कर दिया, वही लोक में सुकृत है। अर्थात उसी ने लोक मे अच्छा काम किया है।[2]

महानामसक्कसुत्त में शैक्ष्यशील, शैक्ष्यसमाधि और शैक्ष्य प्रज्ञा के बारे मे उल्लेख है। शील के पालन करने को शैक्ष्य शील, चार रूपावचर ध्यान को शैक्ष्य समाधि, चार आर्यसत्यों के सम्यक रूप से जानने को शैक्ष्य प्रज्ञा कहते हैं।[3]

समणवग्ग के **समणसुत्त** में समस्त बौद्ध धर्म का नीचोड़ या सार उल्लिखित है- अधिशील शिक्षा, अधिचित्त शिक्षा और अधिप्रज्ञा शिक्षा। इन तीनों की भावना करने से छन्द कभी तीव्र नहीं होता है।[4]

पठम सिक्खा सुत्त, दुतिय सिक्खा सुत्त तथा **ततिय सिक्खा सुत्त** में कौन-कौन से संयोजन को क्षय करने पर श्रोतापन्न, सकृदागामी, अनागामी एवं अर्हत हो सकता है इसका कथन है। प्रथम तीन संयोजनों को काटने पर कोई व्यक्ति श्रोतापन्न होता है अर्थात, वह उस श्रोत में प्रवेश करता है जो उसे निर्वाण तक ले जायेगा। फिर कुछ संयोजनों को तनु करने से वह सकृदागामी होता है, उन्हें काटने से अनागामी और शेष संयोजनों को काट डालने से वह अर्हत हो जाता है। सभी आश्रवों को क्षय कर वह चित्त विमुक्ति और प्रज्ञा विमुक्ति का स्वयं अभिज्ञान कर विहार करता है।

सो आसवानं खया अनासवं चेतोविमुत्तिं पञ्ञाविमुत्तिं दिट्ठेवधम्मे सयं अभिञ्ञा सच्छिकत्वा उपसम्पज्ज विहरति। तं वा पन अनभिसम्भवं अप्पटिविज्झं पञ्चन्नं ओरम्भागियानं संयोजनानं परिक्खया उपहच्च परिनिब्बायी होति। तं वा पन अनभिसंभव अप्पटिविज्झं पञ्चन्नं ओरम्भागियानं संयोजनानं।

---

1. वही, 205-206
2. वही, 248
3. वही, 249
4. वही, 259

यहां हम देखते हैं कि विभिन्न प्रकार के पुद्गलों तथा उनके गुणों की चर्चा है। बाद में यहां से इन सब बातों को लेकर पुग्गल पञ्ञत्ति नामक पुस्तक में इनका संग्रह किया गया।

लोणकपल्लवग्गो के **पंसुधोवक सुत्त** में छः प्रकार की अभिज्ञाओं का वर्णन है जैसे इद्धिविध, दिब्बसोत, परचित्तविजानन, पुब्बेनिवासानुस्सति, दिब्बचक्खु, आसवक्खयञाण।[1] इनकी चर्चा तो बार-बार आई ही है।

सम्बोधवग्ग के **पुब्बेवसम्बोध सुत्त** में इस लोक का क्या आस्वाद है, क्या भय है और कैसे इससे निस्सरण होता है, इनके बारे में भगवान बुद्ध ने कहा है। इस लोक में जो कुछ सुख या सौमनस्य है, वही इसका आस्वाद है। यह लोक अनित्य, दुःख तथा विपरिणामधर्मा है, यही इसकी भयावहता है। यदि यहां छन्दराग का विनयन एवं प्रहाण कर दिया जाय तो लोक से छुटकारा (निस्सरण) हो सकता है। भगवान बुद्ध ने कहा कि जब यथार्थ रूप में मैंने लोक के आस्वाद, इसकी भयावहता और इससे छुटकारा को जान लिया, समझ लिया, तभी मैंने अनुत्तर सम्यक सम्बोधि प्राप्त की और मैं यह भलीभांति जान गया कि मेरी विमुक्ति अचल है, यह मेरा अन्तिम जन्म है और अब मेरा पुनर्भव नहीं होगा अर्थात मैंने निर्वाण प्राप्त कर लिया।[2]

दुतिय अस्साद सुत्त में उन्होंने आस्वाद भयावहता और निस्सरण के गुण बताये। आस्वाद के कारण लोग रागरञ्जित होते हैं, इसकी भयावहता अनुभव कर लोग विरक्त होते हैं अर्थात निर्वेद प्राप्त करते हैं और तभी लोक से निस्सरण प्राप्त होता है।

अरक्खित सुत्त[3] में चित्त को नियंत्रित करने के लिये कहा गया है। अनियंत्रित एवं अनारक्षित चित्त से जो भी कर्म किया जाता है, वह तृष्णायुक्त होता है। वे छन्द से, राग से उत्पन्न होते हैं। इसलिये चित्त की रक्षा परमावश्यक है। उसी तरह चित्त को अव्यापन्न बनाने की आवश्यकता है। अर्थात उसे द्वेष रहित बनाना जरूरी है। यह बात **व्यापन्न सुत्त** में कही गई है। लोभ और द्वेष से मुक्त चित्त ही सुकर्म कर सकता है।

पठम निदान सुत्त[4] में अकुशल कर्मों के तीन मूल, लोभ, द्वेष और मोह तथा

---

1. वही, 286-289
2. वही, 292
3. वही, 294-296
4. वही, 296

कुशल कर्मों के तीन मूल अलोभ, अद्वेष और अमोह बताये गये हैं। अभिधम्म की पुस्तकों में इनकी चर्चा कम्म हेतु के संदर्भ में की गई है।

अप्पमेय्य सुत्त[1] में तीन प्रकार के पुद्गल (सुप्पमेय्यो, दुप्पमेय्यो, अप्पमेय्यो) और **आनेञ्जसुत्त**[2] में तीन प्रकार के पुद्गलों (जैसे अनंत आकाश को आलम्बन मानकर ध्यान करने वाले, विज्ञान आयतन को आलंबन मानकर ध्यान करने वाले और आकिञ्चन आयतन को आलंबन मानकर ध्यान करने वाले) का उल्लेख है।

दुष्प्रमेय पुद्गल वह है जो उद्धत, चंचल, मुखर, अनाप-शनाप बोलने वाला, स्मृति-क्षीण, असंप्रज्ञ, असमाहित, विभ्रान्त चित्त एवं जिसकी इन्द्रियां स्वाभाविक रूप से चंचल हैं। इध, भिक्खवे, पुग्गलो उद्धतो होति उन्नलो, चपलो, मुखरो, विकिण्णवाचो, मुट्ठस्सति, असम्पजानो, असमाहितो विब्भन्तचित्तो, पाकतिन्द्रियो।[3]

सुप्रमेय पुद्गल ठीक इसके विपरीत अनुद्धत, अचपल, अमुखर, स्मृतिमान, संप्रज्ञ, समाहित एवं एकाग्रचित वाला है तथा वह है जिसकी इन्द्रियां नियंत्रित हैं।[4] और तीसरे प्रकार के पुद्गल को अप्रमेय कहते हैं। वह अर्हत एवं क्षीणाश्रव होता है।[5]

शुद्धि या शुचिता तीन प्रकार की है, कायशुद्धि वचीशुद्धि एवं मनोशुद्धि। ये तीनों शुद्धियां क्रमशः शुद्ध कायिक कर्म, शुद्ध वाचिक कर्म एवं शुद्ध मानसिक कर्म होते हैं। जिस पुद्गल के मनोकर्म शुद्ध होते हैं वह अनभिध्यालु, अव्यापन्न चित्त एवं सम्यक दृष्टिवाला तो होता ही है, साथ ही साथ वह यह भी जानता है कि उसमें पांच नीवरणों में से कोई एक या सभी हैं या नहीं हैं।[6]

मौन भी तीन प्रकार के हैं:-कायमोनेय्य, वचीमोनेय्य और मनोमोनेय्य जो क्रमशः शुद्ध कायकर्म, शुद्ध वचीकर्म एवं शुद्ध मनोकर्म का द्योतक है।

लेख सुत्त[7] में तीन प्रकार के पुद्गलों का वर्णन है। पासानलेखूपमोपुग्गलो (पत्थर पर खिंची लकीर के समान), पठवीलेखूपमो पुग्गलो और उदकलेखूपमो पुग्गलो (पानी पर खिंची लकीर के समान)। पहले प्रकार का पुद्गल बार-बार क्रुद्ध होता है और उसका क्रोध बहुत देर तक रहता है। दूसरे प्रकाश के पुद्गल का क्रोध

1. वही, 301
2. वही, 301
3. वही, 300
4. वही, 300
5. वही, 300
6. वही, 301-307
7. अं.नि. तिकनिपात 318

अधिक देर तक नहीं रहता, लेकिन वह क्रोधित होता है। और तीसरे प्रकार के पुद्गल वैसे हैं जिन्हें कठोर से कठोर वचन भी क्रोधित नहीं कर पाते और वे सदा-प्रसन्न चित्त रहते हैं।

योधाजीव सुत्त[1] में अस्मिता के भाव को हटाने के लिये इसका ज्ञान परमावश्यक बताया है – **नेतं मम** (यह मेरा नहीं है) **नेसो हमस्मि** (यह मैं नहीं हूँ) **न मे सो अत्ता** (यह मेरी आत्मा नहीं है।)

चार आर्यसत्यों के बारे में भी इस सुत्त में चर्चा है तथा इनकी चर्चा **अस्सखलुङ्क सुत्त**[2] में भी है।

प्रथम तृतीय **मोर सुत्त** में कहा गया है कि जो भिक्षु अशैक्ष्य शील स्कंध अशैक्ष्य समाधि स्कंध और अशैक्ष्य प्रज्ञा स्कंध से समन्वागत है अर्थात युक्त है, अर्थात अधिक पूर्णता प्राप्त करता है, वह योग क्षेम (शांति निर्वाण का) बहुत दूर तक प्राप्त करता है। वह बहुत शुद्ध जीवन जीता है, निर्वाण प्राप्त करता है और देव मनुष्यों में श्रेष्ठ होता है।[3]

चार अनुपश्यनाएँ ही मध्यम मार्ग है – यह अचेलक वग्गो में कहा गया है।[4] जो संप्रज्ञ और स्मृतिमान होकर कायानुपश्यना, वेदनानुपश्यना आदि करता है और अभिध्या और दौर्मनस्य का विनयन करता है वही मध्यम मार्ग पर चलने वाला कहा जाता है। इसी सुत्त में चार सम्यक प्रधान, चार ऋद्धिपाद, पांच इन्द्रिय, पांच बल, सात बोध्यंग और आर्य मार्ग के आठ अंगों का भी उल्लेख है।

अंगुत्तर निकाय के चौथे निपात में चार-चार ऐसे धर्मों को दिखाया गया है जिनका प्रभाव एक ही तरह का होता है अर्थात चारों एक ही तरह के होते हैं। जैसे चार धर्मों (आर्यशील, आर्यसमाधि, आर्यप्रज्ञा और आर्य विमुक्ति) को ठीक से न जानने से, इनका सम्यक बोध न होने से पुद्गल का संसार में संसरण होता रहता है। इन चारों को नहीं जानने से यह कहा जाता है कि व्यक्ति इस धर्म-विनय से च्युत हो गया और जो इन चारों से समन्वागत है, युक्त है, वह इस धर्म विनय से कभी पतित या स्खलित नहीं हो सकता।[5]

---

1. वही, 320
2. वही, 323
3. वही, 327-328
4. वही, 334
5. वही चतुक्कनिपात 1-3

अप्पस्सुत सुत्त में चार प्रकार के पुद्गल बताये गये हैं। एक तो वह जिसने सुत्त, गेय्य गाथा आदि कम पढ़ा है और ठीक से उनका अर्थ भी नहीं जानता है। दूसरा वह है जो कम पढ़ा है पर अर्थ जानकर धर्मानुधर्म में प्रतिपन्न होता है। तीसरे प्रकार का पुद्गल वह है जो है तो बहुश्रुत पर अर्थ नहीं जानने के कारण धर्मानुधर्मप्रतिपन्न नहीं होता और चौथे प्रकार का पुद्गल वह है जो बहुश्रुत है, अर्थ भी जानता है और धर्मानुधर्म प्रतिपन्न है - अर्थात् स्थूल एवं सूक्ष्मतम धर्मों के अनुसार जीवन जीता है।

चर वग्ग के **चर सुत्त** में तीन प्रकार के वितर्कों का उल्लेख है- काम वितर्क, व्यापाद वितर्क तथा विहिंसा वितर्क। जो भिक्षु इन वितर्कों का त्याग नहीं करता, इनका विनयन नहीं करता, इनको अस्तंगमित करने का प्रयास नहीं करता, वह कभी भी निर्वाण की प्राप्ति नहीं कर सकता।

चरं वा यदि वा तिट्ठं, निसिन्नो उद वा सयं।
यो वितक्कं वितक्केति, पापकं गेहनिस्सितं।।

कुमग्गपटिपन्नो सो, मोहनेय्येसु मुच्छितो।
अभब्बो तादिसो भिक्खु, फुट्ठुं सम्बोधिमुत्तमं।।[1]

इसके विपरीत यदि इनका त्याग करता है, इनका विनयन करता है तो उसका सम्बोधि प्राप्त करना बिल्कुल संभव है।

वितक्कं समयित्वान, वितक्कूपसमे रतो।
भब्बो सो तादिसो भिक्खु, फुट्ठुं सम्बोधिमुत्तमं।।[2]

शील संपन्न होने से, प्रातिमोक्ष संपन्न होने से, प्रतिमोक्ष संवर से संवृत होने से तथा आचार, गोचर में सम्पन्न, छोटी सी गलतियो में भय देखने वाले की अभिध्या, व्यापाद, थीनमिद्ध, उद्धच्चकुकुच, और विचिकिच्छा प्रहीण होते हैं। वह आरद्धवीर्य होता है। उसकी स्मृति जागरूक रहती है। चित्त एकाग्र होता है और आतापी होता है।

संवर सुत्त में चार प्रकार के प्रधानों का उल्लेख है। अनुत्पन्न पापपूर्ण अकुशल धर्मों को उत्पन्न न होने देने के लिये प्रयत्न करना, उत्पन्न हुए पापपूर्ण अकुशल धर्मों को दूर करने के लिये प्रयास करना, अनुत्पन्न कुशल धर्मों को उत्पन्न करने का प्रयास करना और उत्पन्न हुए कुशल धर्मों को बनाये रखने तथा वृद्धि करने का प्रयास करना।

---

1. अं. नि.-1.2.16
2. वही, 16

ये क्रमशः संवर, प्रहाण, भावना और अनुरक्खण कहलाते है।[1] इनके पालन करने से दुःख का क्षय होता है।

संवरो च पहानञ्च, भावना अनुरक्खना।
एते पधाना चत्तारो, देसितादिच्चबन्धुना।
योहि भिक्खु इधातापी, खयं दुक्खस्स पापुणेति।[2]

पठम दुतिय, ततिय, अगति सुत्त तथा **भत्तुद्देसक सुत्त** में छन्द, द्वेष, मोह और भय के दोष बताये गये हैं। जिनमें ये अधर्म हैं उनकी वैसी ही हानि होती है जैसे कृष्ण पक्ष के चांद की और जो इन अधर्मों के शिकार नहीं हैं, उनकी वृद्धि वैसी ही होती है जैसे शुक्ल पक्ष के चांद की। चारों अधर्मों से युक्त व्यक्ति नरक जाता है और इनसे मुक्त व्यक्ति स्वर्ग।[3]

धम्मपद सुत्त[4] में चार धर्मों को गिनाया गया है जिनमें दो कुशल मूल हैं अलोभ एवं अक्रोध, तथा दो आर्य मार्ग के अंग है सम्यक स्मृति एवं सम्यक समाधि। इनके बारे में कहा गया है कि ये अग्र हैं, दीर्घ काल से चले आ रहे हैं, और किसी भी काल में ये संकीर्ण नहीं होते। **परिब्बाजक सुत्त**[5] में भी यही बात कही गई है।

अपरिहानिय सुत्त[6] में चार ऐसे धर्म बताये गये हैं जिनको जीवन में भावित करने से हानि संभव नहीं है और ये निर्वाण के समीप ले जाते हैं। ये हैं शील सम्पन्नता, इन्द्रियों में गुप्तद्वारता, भोजन में मात्रा का ज्ञान और जागरणशीलता।

समाधि भावना सुत्त[7] में चार प्रकार की समाधियाँ कही गई हैं जिनकी भावना करने से इसी जीवन में सुख बिहार (फल) मिलता है, ज्ञान दर्शन का लाभ होता है, जो स्मृति संप्रज्ञान बढ़ाती हैं और आश्रवों का क्षय कराती हैं।

विपल्लास सुत्त[8] में चार विपर्यासों का उल्लेख है। विपर्यास कहते हैं, अनित्य को नित्य मानना, दुःख को सुख मानना, अनात्म को आत्मा मानना और अशुभ को शुभ मानना। ठीक इनके विपरीत मानने से विपर्यास नहीं होता है।

1. वही, 1.2.86
2. वही, 1.2.86
3. वही, 21-22
4. वही, 34
5. वही, 35
6. वही, 45
7. वही, 50
8. वही, 59

पठम एवं द्वितीय **संवास सुत्त**[1] में चार प्रकार के पुद्गल गिनाये गये हैं। जो शव के साथ रहता है, जो शव देवी के साथ रहता है, जो देव शव के साथ रहता है तथा जो देव देवी के साथ रहता है। जो शील का पालन करते हैं वे देव या देवी हैं, जो नहीं करते वे शव हैं।

अपण्णक वग्ग में **पधानसुत्त**[2] में कहा गया है कि चार धर्मों से युक्त व्यक्ति आश्रवों का क्षय करता है। ये धर्म हैं शीलवान तथा बहुश्रुत होना, आरद्धवीर्य एवं प्रज्ञावान होना। पुनः **सम्मादिट्ठि सुत्त** में उन चार धर्मों का उल्लेख है जो आश्रवों का क्षय कराते हैं। ये नैष्कर्म्य वितर्क, अव्यापाद वितर्क, अविहिंसा वितर्क और सम्यक दृष्टि।

दक्खिणसुत्त में चार प्रकार के दान या दक्षिणा बताये गये हैं। वह दान जो दायक को विशुद्ध तो करता है पर लेने वाले को नहीं, जो लेने वालों को विशुद्ध तो करता है पर देने वाले को नहीं, जो लेने वालों को विशुद्ध करता है पर देने वाले को नहीं, जो दोनों में से किसी को विशुद्ध नहीं करता और जो दोनों को विशुद्ध करता है। यह इस पर निर्भर करता है कि दान देने वाला और लेने वाला शीलवान है या नहीं।

पाणातिपात सुत्त एवं **मुसावाद सुत्त** में दिखाया गया है कि जो चार धर्मों से समन्वागत है वह नरक में जाता है। ये कायिक अकुशल कर्म तथा वाचिक अकुशल कर्म हैं:– जीव हिंसा करना, चोरी करना, दुराचरण करना तथा झूठ बोलना। जो झूठ बोलता है, चुगली खाता है, कठोर वचन बोलता है तथा व्यर्थ का प्रलाप करता है– वह नरकगामी होता है और अकुशल धर्म से जो दूर रहता है, वह स्वर्गगामी होता है।[3]

तमोतम सुत्त[4] में चार प्रकार के पुद्गल बताये गये हैं, **तमोतम परायणो, तमोजोति परायणो, जोतितम परायणो, जोतिजोति परायणो**। इन पुद्गलों का वर्णन पुग्गल पञ्ञत्ति में भी है।

काय, वाचा और मन से जो दुष्कर्म करता है उसे अंधकार कहा गया है और जिनके कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म ठीक हैं उन्हें ज्योति कहा गया है।

संयोजन सुत्त में संयोजनों का उल्लेख है तथा श्रोतापन्न और सकदागामी पुद्गलों का उल्लेख है।

1. वही, 66–70
2. वही, 88
3. वही, 96
4. वही, 98

असुखवग्गो में चार प्रकार के पुद्गलों का उल्लेख है जैसे असुर–असुर परिवार, असुरदेव परिवार, देवअसुरपरिवार, देव देव परिवार। जो स्वयं दु:शील है तथा दुशीलों की संगति में रहता है, वह असुर है और जो शीलवान है तथा शीलवानों की संगति करता है वह देव है।

एक और तरह से चार प्रकार के पुद्गलों का वर्गीकरण किया गया है। एक पुद्गल अन्दर से एकाग्र होता है पर विपश्यना से अधिप्रज्ञा का लाभी नहीं होता, दूसरा विपश्यना से अधिप्रज्ञा का लाभी होता है पर आन्तरिक एकाग्रता उसे नहीं होती, तीसरे प्रकार के पुद्गल को न तो आन्तरिक एकाग्रता प्राप्त होती है और न विपश्यनाजन्य अधिप्रज्ञा और चौथे प्रकार के पुद्गल को आन्तरिक एकाग्रता के साथ साथ विपश्यनाजन्य अधिप्रज्ञा की भी प्राप्ति होती है।[1]

दुतिय समाधि सुत्त[2] में कहा गया है कि जो पुद्गल आन्तरिक एकाग्रता सम्पन्न है उसको विपश्यनाजन्य अधिप्रज्ञा के लिये योग करना चाहिए।

जिस पुद्गल को विपश्यना से अधिप्रज्ञा की प्राप्ति हुई पर जिसे आन्तरिक एकाग्रता नहीं है, उसे अधिप्रज्ञा धर्म को अच्छी तरह प्रतिष्ठित कर आन्तरिक एकाग्रता के लिये योग करना चाहिये। जिस पुद्गल को दो में से एक भी नहीं है उसको कुशल धर्म के लाभ के लिये सम्यक व्यायाम करना चाहिये, स्मृति और संप्रज्ञान की भावना करनी चाहिये, उत्साह के साथ एवं बिना बाधा के, बिना विरोध के, और जिस पुद्गल को दोनों ही प्राप्त है, उसे अपने को और अधिक कुशल धर्मों में प्रतिष्ठित कर आश्रवों के क्षय के लिये प्रयत्न करना चाहिये।

छवालात सुत्त[3] में चार प्रकार के पुद्गलों का उल्लेख है– जो न तो अपने हित के लिये प्रतिपन्न है न दूसरों के हित के लिये प्रतिपन्न है, जो दूसरों के हित के लिये तो प्रतिपन्न है पर आत्महित के लिये नहीं, तीसरे प्रकार के पुद्गल आत्महित के लिए प्रतिपन्न होते हैं पर दूसरों के हित के लिए नहीं और चौथे प्रकार के पुद्गल अपने हित तथा दूसरों के हित के लिए प्रतिपन्न होते हैं। पहले प्रकार का पुद्गल उस शव की तरह है जो दोनों ओर से प्रदीप्त है। जो अपने हित तथा परहित के लिये प्रतिपन्न रहता है, वह सबसे उत्तम पुद्गल है, प्रमुख है, प्रवर है, उसका उत्तरोतर विकास ही होता रहता है।

1. वही, 107
2. वही, 107–108
3. वही, 110

राग विनय सुत्त में भी चार-चार प्रकार के पुद्गलों का उल्लेख है। पहला पुद्गल अपना राग, द्वेष और मोह तो दूर करता है, पर दूसरे का नहीं, दूसरा दूसरे का दूर करता है, अपना नहीं, तीसरा न अपना न दूसरे का दूर करता है और चौथा अपना भी दूर करता है और दूसरे का भी। इस वग्ग के बहुत से सुत्तों में कई दृष्टिकोणों से चार-चार प्रकार के पुद्गलों का वर्णन है।

वलाहक वग्ग[1] के सुत्तों में भी चार-चार प्रकार के पुद्गलों का वर्णन है जिनकी तुलना भौतिक पदार्थों या अन्य जीवों से की गई है। जैसे बादल चार प्रकार के होते हैं: जो गरजते हैं लेकिन बरसते नहीं; जो बरसते हैं लेकिन गरजते नहीं; जो गरजते भी नहीं बरसते भी नहीं और जो गरजते भी हैं बरसते भी हैं। इनकी उपमा पुद्गलों से की गई है। गरजना यहां 'बोलने' का द्योतक है और 'बरसना' करने का।

दुतिय वलाहक सुत्त[2] में 'गरजना' धर्म सीखने का द्योतक है और 'बरसना' इस बात का द्योतक है कि वह चार आर्यसत्यों को अच्छी तरह से जानता है। **कुम्भ सुत्त**[3] में 'गरजना' का अर्थ है भिक्खु की तरह लगना अर्थात् appearance और 'बरसना' का अर्थ चार आर्य सत्यों को सम्यक रूप से जानना अर्थात् reality.

उदह रहद सुत्त[4] में भी झील की उपमा देकर चार प्रकार के पुद्गलों का वर्णन है। इसका वर्णन दो कोटियों को ध्यान में रखकर किया गया है उत्तान और गंभीर। उत्तान का अर्थ छिछला है और गंभीर का अर्थ गहरा। जो छिछला है पर गहरा दिखाई पड़ता है, जो गहरा है पर छिछला दिखाई पड़ता है जो छिछला है और छिछला दिखाई पड़ता है तथा जो गहरा है और गहरा दिखाई भी पड़ता है।

पुन: चार प्रकार के आम्रफल बताकर चार प्रकार के पुद्गलों का वर्णन **अम्बसुत्त**[5] में है। कच्चा और पका क्रमश: 'सुन्दरता' और 'चार आर्य सत्यों के ज्ञान' का द्योतक है। सुन्दर लगने से भी क्या, यदि उसे सम्यक ज्ञान नहीं है।

चार प्रकार के चूहों की तरह चार पुद्गल होते हैं। इसका उल्लेख **मूसिक सुत्त**[6] में है। बिल बनाना और निवास करने का अर्थ क्रमश: धर्म सुनना और धर्मानुसार जीवन जीना है।

---

1. वही, 111
2. वही, 118
3. वही, 119-120
4. वही, 121
5. वही, 122
6. वही, 123

इसी तरह **रुक्खसुत्त**[1] में फेग्गु और सार की मात्रा को ध्यान में रखकर चार प्रकार के पुद्गलों का वर्णन है। एक तो सिर्फ असार है, फेग्गु है, दूसरा सिर्फ सार है और तीसरा और चौथा दोनों के साथ मिला हुआ है।

अप्पमाद सुत्त[2] में चार धर्मों को छोड़ने के लिये तथा चार को भावित करने के लिये कहा गया है। ये धर्म हैं कायदुराचरण, वची दुराचरण, मनोदुराचरण और मिथ्यादृष्टि तथा जिन चार धर्मों को भावित करने के लिए कहा गया है वे हैं काय सुआचरण, वचीसुआचरण मनोसुआचरण और सम्यक दृष्टि।

आरक्ख सुत्त[3] में जिन चार धर्मों को रक्षक बताया गया है वे हैं अपने चित्त को राग से रंजित नहीं करने का अप्रमाद, अपने चित्त को द्वेष से दूषित नहीं करने का अप्रमाद, अपने चित्त को मोह से मोहनीय नहीं करने का अप्रमाद और अपने चित्त को 'मद' से मदनीय नहीं करने का अप्रमाद। इस तरह जो वीतराग, वीतद्वेष, वीतमोह और वीतमद है वह न तो डरता है, न कांपता है, और न संत्रस्त होता है।

पठम मेत्ता सुत्त[4] तथा **दुतिय मेत्ता सुत्त**[5] में चार प्रकार के पुद्गलों का वर्णन है। एक मैत्रीयुक्त चित्त से विहार करता है, दूसरा करुणायुक्त चित्त से, तीसरा मुदिता-युक्त चित्त से और चौथा उपेक्षायुक्त चित्त से।

पुग्गलवग्ग के **संयोजन सुत्त** में तीन प्रकार के संयोजनों जैसे ओरम्भागिय संयोजन, उपपत्ति लाभ कराने वाले संयोजन तथा भवलाभ कराने वाले संयोजन और इन्हीं के आधार पर चार प्रकार के पुद्गलों का वर्णन है। पहला वह पुद्गल जिसके ओरम्भागिय संयोजन, उपपत्ति लाभ करने वाले तथा भव लाभ कराने वाले संयोजनों में से कोई भी अप्रहीण नहीं है। दूसरे का ओरम्भागिय संयोजन तो प्रहीण हुआ रहता है, पर शेष दो अप्रहीण रहते हैं, तीसरे के प्रथम दो संयोजन प्रहीण हुये रहते हैं पर तीसरा संयोजन अप्रहीण रहता है और चौथे प्रकार के पुद्गल का तीनों संयोजन प्रहीण हुआ रहता है। पहला सकृदागामी, दूसरा अकनिष्ठगामी, तीसरा अन्तरापरिनिब्बायी और चौथे प्रकार का पुद्गल अर्हत है।

सावज्जसुत्त[6] में भी चार प्रकार के पुद्गलों का वर्णन है सावज्जो (सावद्य),

---

1. वही, 126
2. वही, 136
3. वही, 137
4. वही, 146-147
5. वही, 146-147
6. वही, 155

वज्जबहुलो (वद्यबहुल) अप्पवज्जो (अल्पवद्य) और अनवज्जो (अनवद्य) जो सावद्य काय कर्म, वची कर्म और मनो कर्म से युक्त है वह सावद्य पुद्गल है जिसके तीनों कर्म अल्पवद्य किन्तु वद्यबहुल है वह बद्यबहुल, जिसके तीनों कर्म अल्प अनवद्य बहुल और अल्पसावद्य है, वह अल्पवद्य है और जिसके तीनों कर्म अनवद्य हैं, वह अनवद्य पुद्गल है।

पठम सील सुत्त[1] में पुद्गल को चार कोटियों में शील समाधि और प्रज्ञा की भावना कितनी पूर्णता के साथ की गई है- इस आधार पर परिगणित किया है। पहले प्रकार का पुद्गल न तो शील में परिपूर्णता प्राप्त किये हुए है और न समाधि तथा प्रज्ञा में; दूसरे प्रकार के पुद्गल शील में परिपूर्णता प्राप्त किये हुए है लेकिन समाधि और प्रज्ञा में नहीं; तीसरे प्रकार का पुद्गल शील और समाधि पूर्ण रूप से भावित किये हुए है लेकिन उसकी प्रज्ञा भावित नहीं हुई है और चौथे प्रकार के पुद्गल शील समाधि और प्रज्ञा तीनों में परिपूर्णता प्राप्त है।

दुतिय समाधि सुत्त में चार प्रकार के पुद्गलों को शील की गुरुता और आधिपतेय्य के दृष्टिकोण से कहा गया है।

निकट्ठ सुत्त में बाह्य आचरण और आन्तरिक आचरण को ध्यान में रखकर पुद्गलों को चार कोटियों में परिगणित किया गया है। बाह्य आचरण तो भिक्षु जैसा है- अरण्य वास करता है, पर उसमें काम वितर्क, व्यापाद वितर्क और विहिंसा, वितर्क है। बाह्य आचरण तो भिक्षु जैसा नहीं है, अरण्यवासी नहीं है पर उनमें नैष्कर्म्य, अव्यापाद और अविहिंसा है। यहां पहले प्रकार का व्यक्ति निकट्ठकायो अनिकट्ठ चित्तो, दूसरे प्रकार का व्यक्ति अनिकट्ठकायो निकट्ठ चित्तो होता है। तीसरे प्रकार का व्यक्ति वन प्रान्तों का सेवन तो करता ही नहीं, साथ ही कामवितर्क, व्यापादवितर्क और अविहिंसावितर्क करता है। ऐसा पुद्गल अकनिट्ठकायो अकनिट्ठचित्तो होता है। चौथे प्रकार का पुद्गल वह है जो अरण्यवास भी करता है। और साथ ही उसमें नैष्कर्म्य, अव्यापाद एवं अविहिंसा है। ऐसा पुद्गल निकट्ठकायो निकट्ठचित्तो होता है।

आभावग्ग के सुत्तों में प्रज्ञा आभा, प्रज्ञा आलोक, प्रज्ञा अवभास और प्रज्ञा ज्योति को चार ज्योतियों में श्रेष्ठ बताया गया है:- सूर्य ज्योति, चन्द्रज्योति, अग्नि ज्योति और प्रज्ञा ज्योति में।

इन्द्रिय वग्ग[2] में चार इन्द्रियों (श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि) चार बलों (श्रद्धा

---

1. वही, 156
2. वही, 162

वीर्य, स्मृति, समाधि) और प्रज्ञा बल वीर्य बल, अनवद्य बल तथा संग्रह बल गिनाये गये है।

उभय सुत्त[1] में चार प्रकार की प्रतिपदाएँ बतायी गयी हैं **दुक्खा दन्धाभिञ्ञा, दुक्खा खिप्पाभिञ्ञा, सुखा दन्धाभिञ्ञा और सुखा खिप्पाभिञ्ञा**। पहली तीन प्रतिपदाएँ हीन हैं और अन्तिम प्रणीत है।

अत्तन्तप सुत्त[2] में चार प्रकार के पुद्गल बताये गये हैं- अपने आप को संतप्त करने वाला, दूसरे को संतप्त करने वाला, अपने को तथा दूसरे को भी संतप्त करने वाला और न अपने आपको तथा न दूसरे को संतप्त करने वाला।

सप्पुरिस वग्ग के सुत्तों[3] में कौन सत्पुरुष है, कौन असत्पुरुष, कौन सत्पुरुष से भी बड़ा सत्पुरुष और कौन असत्पुरूष से भी नीच? जो प्राणातिपात आदि करता है, जो श्रद्धालु नहीं है, लज्जाशील नहीं है, अनोतप्पी है, अल्पश्रुत है, हीनवीर्य है, जो स्मृतिमान नहीं है तथा जो दुष्प्रज्ञ है, वह असत्पुरुष है। इससे भी हीन पुरुष वह है जो दूसरों को प्राणातिपात करने के लिये उकसाता है, दूसरे को अश्रद्धालु, अलज्जाशील, अल्पश्रुत तथा दुष्प्रज्ञ बनाता है। सत्पुरुष वह है जो जीवहिंसा आदि से विरत रहता है, श्रद्धालु है, लज्जाशील है, बहुश्रुत है, वीर्यवान है, स्मृतिमान तथा प्रज्ञासंपन्न है तथा जो दूसरों को जीवहिंसा आदि से विरत रहने की शिक्षा देता है या प्रेरित करता हे, श्रद्धावान बनाता है, लज्जाशील बनाता है, बहुश्रुत बनाता है, वीर्यवान बनाता है, स्मृतिमान तथा प्रज्ञासंपन्न बनाता है, वह सत्पुरुष से भी बड़ा है।

ऊपर वर्णित प्रसंग में पहले को पापधर्म और दूसरे को कल्याण धर्म कहा जाता है इसलिये पुद्गल भी चार प्रकार के हैं- पापी, पापी से भी बड़ा पापी, कल्याण करने वाला और उससे भी बड़ा कल्याणकारी व्यक्ति।[4]

दुच्चरित सुत्त[5] में चार प्रकार के वाचिक दुराचरण का उल्लेख है जो शील के अन्तर्गत आता है। यही चार प्रकार के वाचिक सदाचरण का भी उल्लेख है- जैसे सच्च वाचा, अपिसुणा वाचा, सण्हावाचा, मन्तवाचा।

दिट्ठिसुत्त में चार ऐसे धर्मों का उल्लेख है जिनसे समन्वागत पुद्गल मूर्ख होता है,

---

1. वही, 177
2. वही, 235-236
3. वही, 247-253
4. वही, 253-256
5. अंगुत्तर निकाय, भाग-1 खण्ड-2.261

अपने आप को हानि पहुँचाता है तथा बहुत अपुण्य को जन्म देता है। ठीक इसके विपरीत चार धर्म ऐसे हैं- काय, वाचा तथा मन का सदाचरण और सम्यक दृष्टि जिनसे समन्वागत पुद्गल पंडित, अनवद्य और अपना हित करने वाला होता है।[1]

शुक्ल कर्मो और कृष्ण कर्मों अर्थात कुशल धर्मों और अकुशल धर्मों का उल्लेख बार बार कम्म वग्ग के सुत्तों[2] में आया है।

इस प्रकार हम देखते हैं अंगुत्तर निकाय के चतुक्क निपात में कुशल-अकुशल कर्मों की, शील, समाधि, प्रज्ञा की, काय कर्म, वचीकर्म, तथा मनोकर्म के दो भेदों अर्थात, अकुशल और कुशल कर्मो की, पांच बलों की, पांच इन्द्रियों की, सात बोध्यंगों, की चार स्मृति प्रस्थानों की, चार सम्यक प्रधानों की, अष्टांगिक मार्ग की चर्चा विस्तार के साथ बार-बार की गई हैं।

अंगुत्तर निकाय के पञ्चक निपात में पांच-पांच धर्मों को लेकर उपदेश संगृहीत हैं। इस निपात में भी पांच बलों की, पांच चित्त मलों की, पांच संज्ञाओं की, पांच सुख विहारों की, पांच शीलों आदि की चर्चा जगह-जगह पर की गई है। ये सारे विषय अभिधम्म के हैं। अतः यह कहना बिल्कुल समीचीन होगा कि अभिधम्म की विषय वस्तु सुत्त पिटक में बिखरी पड़ी है। जैसा ऊपर कहा गया है अभिधम्म, जिसका अर्थ उच्च धर्म्म है, की उत्पत्ति तो उसी दिन हो गई थी जिस दिन भगवान बुद्ध को ज्ञान की प्राप्ति हुई थी और जिस दिन उन्होंने प्रतीत्यसमुत्पाद को तथा चार आर्यसत्यों का ज्ञान प्राप्त किया था। सुत्त पिटक में उनके उपदेश या उनके प्रमुख शिष्यों के उपदेशों में अभिधम्म से संबंधित ही गहरी बातें हैं। पञ्चक निपात में कुछ ऐसे धर्मों की चर्चा है जो पांच-पांच के समूह में उपदेशित हैं।

अभिधम्म में जहाँ बलों की चर्चा है वहाँ पांच प्रकार के बल कहे गये हैं। इस निपात में **संखित्त सुत्त** में श्रद्धा बल, ह्री बल, अपत्रपा बल, वीर्य बल तथा प्रज्ञाबल के बारे में कहा गया है। इन्हें शैक्ष्य बल कहा गया है। श्रद्धा बल के कारण ही कोई बुद्ध में श्रद्धा रखता है, बोधि में श्रद्धावान होता है तथा ऐसा सोचता है।

"इतिपि सो भगवा अरहं, सम्मासम्बुद्धो विज्जाचरणसम्पन्नो सुगतो लोकविदू अनुत्तरो पुरिसदम्मसारथि सत्था देवमनुस्सनं बुद्धो भगवाति।"[3]

ह्री बल के कारण ही कोई व्यक्ति पापपूर्ण अकुशल कर्मों को नहीं करता है और

1. वही, 261
2. वही, 256-271
3. अं. नि. पञ्चकनिपात 2.2

तीन प्रकार के दुष्कर्मों से यथा काय दुश्चरित्र, वची दुश्चरित्र और मनोदुश्चरित्र से अपने को दूर रखता है।

अपत्रपा बल के कारण ही वह पापमय अकुशल कर्मों से अपने को दूर रखता है तथा तीन प्रकार के (कायिक, वाचिक तथा मानसिक) दुष्कर्मों को नहीं करता है। वीर्य बल के कारण ही वह अकुशल धर्मों का प्रहाण करता है, कुशल धर्मों को बढ़ाता है और सदा कुशल धर्म में ही प्रवृत्त रहता है। प्रज्ञा बल के कारण ही वह ऐसी प्रज्ञा से समन्वित होता है जो यह जान सकता है कि जो उदय होता है, उसका अस्त होना अवश्यम्भावी है अर्थात सभी चीजें नश्वर हैं नाशवान हैं अनित्य हैं, क्षणभंगुर हैं। इन पांच बलों से युक्त व्यक्ति स्वर्ग की प्राप्ति करता है। इसके विपरीत वह व्यक्ति जो इन पांच बलों के विपरीत धर्मों से युक्त होता है, हीनावस्था को प्राप्त करता है तथा निरयगामी होता है।[1] इन पांच बलों में सबसे महत्वपूर्ण प्रज्ञा बल को बताया गया है। यह घर के उस कूट की तरह है जहाँ सभी कड़ियाँ जाकर मिलती हैं।[2]

दट्ठब्ब सुत्त में यह कहा गया है कि श्रद्धा बल चार श्रोतापत्ति अंगों में देखा जा सकता है, वीर्य बल चार सम्यक प्रधानों में, स्मृति प्रस्थानों में, समाधि बल चार ध्यानों में और प्रज्ञा बल चार आर्यसत्यों में।[3] **पठमहितसुत्त**, **दुतियहितसुत्त**, **ततियहितसुत्त** तथा **चतुत्थहितसुत्त** में पांच प्रकार के धर्मों का उल्लेख है जिनसे संपन्न व्यक्ति अपना हित तो साधता ही है, दूसरों का भी हित साधता है अर्थात् अत्तहित और परहित में कार्य करता है। ये पांच धर्म हैं शील सम्पन्न होना, समाधि सम्पन्न होना, प्रज्ञा सम्पन्न होना, विमुक्ति सम्पन्न होना और विमुक्ति ज्ञान दर्शन सम्पन्न होना। यदि कोई व्यक्ति इन धर्मों से युक्त होता है तो वह आत्महित तो करता है किन्तु परहित नहीं करता। यदि वह स्वयं इन धर्मों से युक्त नहीं है किन्तु दूसरे को इन धर्मों से युक्त होने में प्रेरित करता है तो वह परहित तो करता है किन्तु आत्महित नहीं करता। यदि वह इन धर्मों से न स्वयं सम्पन्न है और न दूसरे को सम्पन्न होने की प्रेरणा देता है तो वह न तो आत्महित करता है और न परहित। ठीक इसके विपरीत यदि वह इन धर्मों से युक्त है तथा दूसरे को भी युक्त होने की प्रेरणा देता है तो वह आत्महित एवं परहित दोनों ही करता है।[4]

---

1. वही, 3-4
2. वही, 9
3. वही, 11
4. वही, 12-13

पठम अगारव सुत्त एवं **दुतिय अगारव सुत्त** में शैक्ष्य धर्म के साथ-साथ शील, समाधि और प्रज्ञा की चर्चा है। कहा गया है कि जो शैक्ष्य धर्म को पूरा नहीं करता, वह शील स्कन्ध को भावित नहीं कर पाता। शील स्कन्ध की भावना के अभाव में समाधि स्कन्ध की भावना नहीं होती और समाधि स्कन्ध की भावना के अभाव में प्रज्ञा स्कन्ध की भावना नहीं हो पाती। यदि एक की भावना की जाती है तो दूसरे की भी भावना होती है।[1]

पांच नीवरणों को चित्त का पांच मैल कहा गया है। जब तक चित्त नीवरण रूपी मलों से युक्त रहता है तब तक वह आस्रवों के क्षय के लिए सम्यक रूप से समाहित नहीं हो पाता। यह बात **उपक्किलेस सुत्त** में कही गई है।[2] और यदि इन मलों को भली भांति दूर कर दिया जाये तो वह व्यक्ति अनेक अभिज्ञाओं को प्राप्त कर सकता है। ऋद्धिविध प्राप्त कर सकता है, दिव्यश्रोत से युक्त हो सकता है, दूसरे के चित्त को जान सकता है, पूर्व जन्म को स्मरण कर सकता है, दिव्यचक्षु से युक्त हो सकता है तथा यह जान सकता है कि उसके आश्रवों का क्षय हो गया है, और वह विमुक्त हो गया है।[3]

दुस्सील सुत्त में यह कहा गया है कि जो शील में विपन्न है उसको सम्यक समाधि की प्राप्ति नहीं हो सकती। समाधि विपन्न होने से यथाभूत ज्ञान दर्शन की प्राप्ति नहीं हो सकती। यथाभूत ज्ञान दर्शन की अप्राप्ति से निर्वेद और वैराग्य की प्राप्ति नहीं हो सकती और निर्वेद और विराग की अप्राप्ति से विमुक्ति ज्ञान दर्शन की प्राप्ति नहीं हो सकती।

'दुस्सीलस्स, भिक्खवे, सीलविपन्नस्स हतूपनिसो होति सम्मासमाधि, सम्मासमाधिम्हि असति सम्माससमाधिविपन्नस्स हतूपनिसं होति यथाभूतञाणदस्सनं यथाभूतञाणदस्सन असति यथाभूतञाणदस्सनविपन्नस्स हतूपनिसो होति निब्बिदाविरागो, निब्बिदाविरागो असति निब्बिदाविरागविपन्नस्स हतूपनिसं होति विमुत्तिञाणदस्सनं।'[4]

यहाँ शील समाधि प्रज्ञा तथा विमुक्ति का परस्पर संबंध दर्शाया गया है। **अनुग्गाहित सुत्त** में समथ और विपस्सना का उल्लेख है। **पञ्चङ्गिक सुत्त** में

---

1. वही, 14-15
2. वही, 15
3. वही, 16-17
4. वही, 17

ध्यानांगों का उल्लेख है। साथ ही स्मृति तथा सम्प्रज्ञान का भी उल्लेख है।[1] मुण्डराज वग्ग के **सम्पदा सुत्त** में पांच सम्पदाओं का उल्लेख है – श्रद्धा, शील, श्रुत, त्याग और प्रज्ञा। इन्हीं को **धन सुत्त** में पांच धन भी कहा गया है। इसी सुत्त में शील की परिभाषा की गई है। प्राणातिपात, मृषावाद आदि से विरत होना शील कहलाता है।[2] नीवरण वग्ग के **आवरण सुत्त** में पांच नीवरणों का उल्लेख है और कहा गया है कि इन्हीं के कारण अकुशल धर्मों की राशि बढ़ती है।[3] **साकच्छ सुत्त** में भी शील, समाधि प्रज्ञा, विमुक्ति तथा विमुक्ति ज्ञान दर्शन का उल्लेख है। **पठम इद्धिपाद सुत्त** में चार प्रकार के ऋद्धिपादों की चर्चा है।[4] **निब्बिदा सुत्त** में यह बताया गया है कि पांच धर्मों को ठीक से भावित करने पर एकान्त निर्वेद तथा वैराग्य का उदय होता है। ये पांच धर्म हैं, अशुभ की अनुपश्यना, आहार में प्रतिकूल संज्ञा, सर्वलोक से अनभिरत रहना, सभी संस्कारों में अनित्य का दर्शन करना एवं मरण संज्ञा को जानना।

योधाजीव वग्ग के **पठम चेतोविमुक्ति फलसुत्त** एवं **द्वितीय चेतोविमुक्ति फलसुत्त** में यह कहा गया है कि पांच संज्ञाओं को भावित करने से महान फल प्राप्त होता है। इन धर्मों को भावित करने से चित्त विमुक्ति तथा प्रज्ञा विमुक्ति का लाभ होता है। इन धर्मों का उल्लेख **गिलान सुत्त** तथा अन्य सुत्तों में भी किया गया है।[5] **दुतिय चेतोविमुत्ति फल सुत्त** में एक अलग प्रकार से उन पांच धर्मों का उल्लेख है जिनको भावित करने से चित्त विमुक्ति तथा प्रज्ञा विमुक्ति का लाभ मिल सकता है। ये धर्म हैं अनित्य संज्ञा, अनित्य में दुःख संज्ञा, दुःख में अनात्म संज्ञा, प्रहाण संज्ञा और विराग संज्ञा।

थेरवग्ग के कुछ सुत्तों में उन धर्मों की चर्चा है जिनसे भिक्षु अपने सब्रह्मचारी का अप्रिय होता है और प्रिय होता है। अप्रिय बनाने वाले पांच धर्म हैं। रागरंजित होना, द्वेष दूषित होना, मोह मोहित होना, कोप कोपित होना और मद से मदान्ध होना अर्थात् जो अवीतराग है, अवीतद्वेष है अवीतमोह है तथा मक्खी (दूसरे के गुणों का अवमूल्यन करने वालो) और पलासी (विद्वेषी) है वह अपने सहचारी भिक्षुओं का प्रिय नहीं हो सकता। इसके विपरीत यदि वह इन धर्मों से मुक्त है तो वह सहचारी भिक्षुओं का प्रिय पात्र हो सकता है।[6]

1. वही, 22
2. वही, 49
3. वही, 58
4. वही, 76
5. वही, 133-134
6. वही, 103

ककुध वग्ग के **पठमसम्पदा सुत्त** में पांच सम्पदाओं का उल्लेख है- श्रद्धा सम्पदा, शील सम्पदा, श्रुत सम्पदा, त्याग सम्पदा और प्रज्ञा सम्पदा।[1]

दुतीय सम्पदा सुत्त में एक दूसरे प्रकार से सम्पदाओं का उल्लेख है। ये हैं शील सम्पदा, समाधि सम्पदा, प्रज्ञा सम्पदा, विमुक्ति सम्पदा एवं विमुक्ति ज्ञान सम्पदा। **फासुविहार सुत्त** में पांच सुखविहारों की चर्चा है और इन्हीं के सन्दर्भ में चार रूपावचर ध्यानों तथा आस्रव क्षय ज्ञान की चर्चा है। प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ ध्यान को प्राप्त कर विहार करना सुख विहार है तथा आस्रवों का क्षयकर प्रज्ञा द्वारा विमुक्ति को इसी जीवन में अपनी अभिज्ञा से साक्षात् कर विहार करना भी एक सुख विहार है।[2]

सोत सुत्त में उन पांच धर्मों का उल्लेख है जिनसे मुक्त होने पर कोई भिक्षु आह्वान करने योग्य होता है, पाहुना बनाने योग्य होता है, दक्षिणा देने योग्य होता है, हाथ जोड़ने योग्य होता है और लोगों के लिए अनुपम पुण्य क्षेत्र होता है। ये पांच धर्म हैं, शील, समाधि, प्रज्ञा, विमुक्ति तथा विमुक्ति ज्ञान दर्शन।

जो भिक्षु रूपों, शब्दों, गन्धों, रसों और स्प्रष्टव्यों के आकर्षण को सह सकता है वही भिक्षु सम्यक सम्बोधि प्राप्त कर सकता है। उपासक वग्ग के **सारज्ज सुत्त** एवं **विसारद सुत्त**[3] में पांच शीलों की चर्चा है। इस तरह हम देखते हैं कि अंगुत्तर निकाय के पंचक निपात के सुत्तों में बहुत सारे ऐसे धर्मों का उल्लेख है जो अभिधम्म में पाये जाते हैं। शील, समाधि, प्रज्ञा, विमुक्ति ज्ञान दर्शन आदि के अतिरिक्त पांच नीवरणों, पांच प्रतिकूल संज्ञाओं, चार ऋद्धिपादों, चार सम्यक प्रधानों, चार स्मृति उपस्थानों, पांच बलों, पांच सम्पदाओं, पांच इन्द्रियों आदि का जगह-जगह पर उल्लेख है।

अंगुत्तर निकाय के छक्क निपात में छः छः धर्मों को लेकर जो उपेदश दिये गये हैं उनका संग्रह है। यहाँ हम उन-उन धर्मों की चर्चा करेंगे जिनका संबंध सीधे अभिधम्म से हैं। अभिधम्म में ऐसा कहा गया है कि निष्पृह व्यक्ति वही हो सकता है जो आंख से किसी रूप को देखकर भी न प्रफुल्लित होता है, न उदास होता है बल्कि वह स्मृतिमान एवं संप्रज्ञानी रहकर उपेक्षा भाव से रूप को देखता है, शब्द को सुनता है, गन्ध को सूंघता है, रस को चखता है, किसी का स्पर्श करता है अथवा मन से किसी विषय को ग्रहण करता है। **पठम आहुनेय्य सुत्त** में यह कहा गया है कि जिस

1. वही, 111
2. वही, 111-112
3. वही, 188-189

भिक्षु में ये छः बातें होती हैं वह सत्करणीय होता है, आतिथ्य के योग्य होता है, दाक्षिणेय्य होता है, हाथ जोड़कर नमस्करणीय होता है और लोगों के लिए अनुपम पुण्य क्षेत्र होता है।

इध, भिक्खवे, भिक्खु चक्खुना रूपं दिस्वा नेव सुमनो होति, न दुम्मनो, उपेक्खको विहरति सतो सम्पजानो.....मनसा धम्मं विञ्ञाय नेव सुमनो होति न दुम्मनो, उपेक्खको विहरति सतो सम्पजानो।[1]

यहाँ पर अभिधम्म की बहुत ही गम्भीर बात कही गई है। चक्षु से रूप देखकर जब कोई व्यक्ति प्रफुल्लित होता है तो उसके मन में तृष्णा जागती है, राग जागता है और यदि वह खिन्न होता है तो उसके मन में द्वेष जागता है। राग या द्वेष के जागने से प्रतीत्यसमुत्पाद का चक्र प्रारंभ हो जाता है और वह जन्म मरण के चक्र में पिसता रहता है। भगवान बुद्ध ने कहा है कि ऐसे ही अवसरों पर मनुष्य को स्मृतिमान बनकर सम्प्रज्ञानी रहकर न तो विषयों में आसक्ति जगानी है और न द्वेष जगाना है। यही एक मात्र पथ है तृष्णा से, द्वेष से बचने का। जो व्यक्ति विषयों में आसक्त नहीं होता वह सत्करणीय, आदरणीय होता है।

दुतिय आहुनेय्य सुत्त में ऐसा उल्लेख किया गया है कि जो छः अभिज्ञाओं को प्राप्त करता है वह भिक्षु सत्कार के योग्य होता है, नमस्कार के योग्य होता है, दक्षिणा के योग्य होता है।[2] **इन्द्रिय सुत्त** में श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा, इन पांच इन्द्रियों का उल्लेख है।[3] **बल सुत्त** में श्रद्धा वीर्य आदि पांच बलों का उल्लेख है।[4]

हम जानते हैं कि अभिधम्म में कर्मस्थानों की चर्चा है। कर्मस्थान पर ही चित्त को एकाग्र कर समाधि प्राप्त की जाती है। **अनुस्सतिट्ठान सुत्त** में छः स्मृतियों का उल्लेख है। ये हैं बुद्धानुस्मृति, धर्मानुस्मृति, संघानुस्मृति, शीलानुस्मृति, त्यागानुस्मृति तथा देवतानुस्मृति।[5] **महानाम सुत्त** में चित्त की एकाग्रता की प्रक्रिया का उल्लेख है।[6] **निस्सारणीय सुत्त** में यह कहा गया है कि छः धातुएँ ऐसी हैं जो मोक्ष प्राप्त कराती हैं। मैत्री चित्तविमुक्ति द्वेष से, करुणा चित्तविमुक्ति खेद से, मुदिता चित्तविमुक्ति

---

1. अं. नि. छक्कनिपात 2.2
2. वही, 2-3
3. वही, 3
4. वही, 4
5. वही, 6
6. वही, 6-7

अरुचि से, उपेक्षा चितविमुक्ति राग से, अनिमित्त चित्तविमुक्ति सभी निमित्तों से मोक्ष प्राप्त कराती है।[1]

अनुत्तरीय वग्ग के **अनुस्सतिट्ठान सुत्त** में छः अनुस्मृतियों के उल्लेख के साथ-साथ उनकी व्याख्या भी है।[2] **महाकच्चायन सुत्त** में भी छः अनुस्मृतियों का उल्लेख है।[3]

देवता वग्ग के **विज्जाभागिय सुत्त** में उन छः संज्ञाओं की चर्चा है जो विद्यापक्षीय हैं जैसे अनित्य संज्ञा, अनित्य के प्रति दुःख संज्ञा, दुःख के प्रति अनात्म संज्ञा, प्रहाण संज्ञा, विराग संज्ञा तथा निरोध संज्ञा।[4]

धम्मिक वग्ग के **मिगसाला सुत्त** में छः प्रकार के पुद्गलों का उल्लेख है।[5] **इन्द्रिय संवर सुत्त** में यह बताया गया है कि जो इन्द्रियों का संवर नहीं करता उसका शील नष्ट होता है, शील की विपन्नता से समाधि नष्ट होती है, समाधि विपन्नता से यथाभूतज्ञान दर्शन नहीं होता, यथाभूत ज्ञान दर्शन के नहीं होने पर विमुक्ति ज्ञान दर्शन नहीं होता। ठीक इसके विपरीत इन्द्रिय संवर से शील, शील की सम्पन्नता से समाधि, समाधि की सम्पन्नता से यथाभूत ज्ञानदर्शन, यथाभूत ज्ञान दर्शन की सम्पन्नता से निर्वेद वैराग्य और निर्वेद वैराग्य की सपन्नता से विमुक्तिज्ञान दर्शन की प्राप्ति होती है।[6] **अप्पमाद सुत्त** में अप्रमाद के लाभ बताए गए हैं। कहा गया है कि यह कैसे सभी धर्मों में श्रेष्ठ है।[7] **फग्गुन सुत्त** में पांच ओरम्भागिय संयोजनों और **आसव सुत्त** में आश्रवों के बारे में विस्तार से बताया गया है। इसी सन्दर्भ में सात बोध्यंगों का भी उल्लेख है।[8] महावग्ग के **मज्झे सुत्त** में यह बताया गया है कि स्पर्श एक छोर है, दूसरा छोर स्पर्श समुदय, स्पर्श निरोध बीच में है, तृष्णा दर्जिन का काम करती है। जो व्यक्ति इस बात को अभिज्ञा और परिज्ञा के स्तर पर जान लेता है, वह इसी जीवन में दुःखों का अन्त कर लेता है।

फस्सो खो, आवुसो, एको अन्तो, फस्स समुदयो दुतियो अन्तो फस्सनिरोधो

1. वही, 12
2. वही, 30-32
3. वही, 32-35
4. वही, 50
5. वही, 62-63
6. वही, 73
7. वही, 76-77
8. वही, 89-96

मज्झे, तण्हा सिब्बिनी, तण्हा हि नं सिब्बति तस्स तस्सेव भवस्स अभिनिब्बत्तिया। एत्तावता, खो आवुसो....दिट्ठेव धम्मे दुक्खस्सन्तकरो होती ति।[1] **निब्बेधिक सुत्त** में काम, वेदना, संज्ञा, आस्रव, कर्म और दुःख के बारे में उल्लेख है। इन सभी धर्मों को ठीक से जानना चाहिये। इनके निदान को जानना चाहिए। इनकी वेमत्तता को जानना चाहिए, इनके विपाक को जानना चाहिए, इनके निरोध तथा इनकी निरोधगामिनी प्रतिपदा को भी जानना चाहिए। इसी सुत्त में इन धर्मों के संदर्भ में प्रतीत्यसमुत्पाद की बातें भी बताई गई हैं। **सीहनादसुत्त** में तथागत के उन छः बलों का उल्लेख है जिनसे युक्त होने के कारण वे उच्च स्थान पाते हैं, परिषदों में सिंहनाद करते हैं और ब्रह्मचक्र प्रवर्तित करते है।[2] **पठमज्झान सुत्त** में ऐसा उपदेश दिया गया है। बिना छः धर्मों को छोड़े प्रथम ध्यान में बिहार करना असंभव है। ये छः धर्म हैं पांच नीवरण तथा कामों में खतरे को ठीक प्रकार से देखना। अरहत्त वग्ग के **दुक्ख सुत्त** में छः धर्मों को गिनाया गया है जिनसे युक्त भिक्षु दुःख में बिहार करता है। साथ ही वैसे छः धर्मों को गिनाया गया है जिनसे युक्त व्यक्ति सुख में बिहार करता है। प्रथम छः धर्म हैं काम वितर्क, व्यापाद वितर्क, विहिंसा वितर्क, काम संज्ञा, व्यापाद संज्ञा और विहिंसा संज्ञा। इनके विपरीत जो छः कुशल धर्म हैं वे हैं नैष्कर्म्य वितर्क, अव्यापाद वितर्क, अविहिंसा वितर्क, नैष्कर्म्य संज्ञा, अव्यापाद संज्ञा और अविहिंसा संज्ञा।[3]

पठम निरय सुत्त में उन छः अकुशल धर्मों की चर्चा है जिनसे समन्वागत व्यक्ति नरकगामी होता है। प्राणी हिंसा करने से, चोरी करने से, व्यभिचार करने से, झूठ बोलने से, पाप की इच्छा रखने से तथा मिथ्या दृष्टि से नरक मिलता है। इसके विपरीत धर्मों के पालन से स्वर्ग मिलता है। आनिसंस वग्ग के सुत्तों में अनित्य, दुःख, अनात्म, निर्वाण, भव, तृष्णा आदि का वर्णन है। राग सुत्त में राग, द्वेष एवं मोह का उल्लेख है और कहा गया है कि राग के प्रहाण के लिए अशुभ की भावना करनी चाहिए, द्वेष के प्रहाण के लिए मेत्ता तथा मोह के प्रहाण के लिए प्रज्ञा की भावना करनी चाहिए। **दुच्चरित सुत्त** में काय दुश्चरित्र, वाचिक दुश्चरित्र तथा मनोदुश्चरित्र के बारे में ऐसा कहा गया है कि काय दुश्चरित्र के प्रहाण के लिए काय सुचरित्र, वाचिक दुश्चरित्र के प्रहाण के लिए वाचिक सुचरित्र और मनोदुश्चरित्र के प्रहाण के लिए मनोसुचरित्र की भावना करनी चाहिए। **वितक्क सुत्त** में काम वितर्क के

1. वही, 105
2. वही, 120
3. वही, 130

प्रहाणार्थ नैष्कर्म्य वितर्क की भावना, व्यापाद वितर्क के प्रहाणार्थ अव्यापाद वितर्क की भावना तथा विहिंसा वितर्क के प्रहाणार्थ अविहिंसा वितर्क की भावना करनी चाहिए।[1]

इसी तरह **सञ्ञा सुत्त** में तथा **धातु सुत्त** में काम संज्ञा, व्यापाद संज्ञा विहिंसा संज्ञा और काम धातु, व्यापाद धातु तथा विहिंसा धातु का कैसे प्रहाण किया जाये इसके बारे में कहा गया है।[2]

अस्साद सुत्त में तीन प्रकार की दृष्टियों का उल्लेख है–आस्वाद दृष्टि, आत्मानुदृष्टि एवं मिथ्यादृष्टि। आस्वाद दृष्टि के प्रहाण के लिए अनित्य संज्ञा की भावना करनी चाहिये। आत्मानुदृष्टि के प्रहाणार्थ अनात्म संज्ञा की और मिथ्या दृष्टि के प्रहाणार्थ सम्यक दृष्टि की भावना करनी चाहिए।[3]

सातवें निपात में भी सात-सात धर्मों का उपदेश दिया गया है। **पठम पियसुत्त**[4] में उन सात बातों के बारे में कहा गया है जिनसे कोई भिक्षु अपने सब्रह्मचारी को अच्छा लगता है, उनमें ह्री अपत्रपा, अल्पेच्छता और सम्यक दृष्टि का उल्लेख है। ह्री और अपत्रपा चेतसिक हैं, अल्पेच्छता शील का एक आवश्यक अंग तथा सम्यक दृष्टि अष्टांगिक मार्ग का एक महत्वपूर्ण अंग। ठीक इसके विपरीत जिसमें ये नहीं पाये जाते अर्थात जिसमें अह्री है अनपत्रपा है, मिथ्यादृष्टि है तथा जो बहुत इच्छावाला है अर्थात् जो पापेच्छ है वह अपने सब्रह्मचारियों का प्रिय नहीं होता।

संखित्तबल सुत्त तथा **वित्थत बल सुत्त**[5] में सात बलों का उल्लेख तथा विस्तार से क्रमशः वर्णन है। श्रद्धाबल, वीर्यबल, ह्री बल, अपत्रपा (पापभीरुता) बल, समाधि बल तथा प्रज्ञाबल है। इन सब की परिभाषा भी यहाँ दी गई है।

ये सातों धन भी हैं श्रद्धाधन, शीलधन, ह्रीधन, पापभीरूता धन, श्रुतधन, त्यागधन तथा प्रज्ञाधन। ये धन क्यों कहे जाते हैं- इसका वर्णन भी **वित्थत धन सुत्त** में किया गया है। ह्रीधन से युक्त व्यक्ति कोई भी कायिक, वाचिक या मानसिक कर्म ऐसा नहीं करता जिससे उसे लज्जित होना पड़े।

संयोजन सुत्त[6] में सात संयोजनों का उल्लेख है। इन संयोजनों के प्रहाणार्थ ही ब्रह्मचर्य का जीवन जिया जाता है।[7]

---

1. वही, 145
2. वही, 146
3. वही, 146
4. वही सत्तकनिपात 153-154
5. वही, 154-155
6. वही, 159
7. वही, 159-160

पुग्गलसुत्त[1] में सात प्रकार के पुद्गलों का उल्लेख है- ये हैं- उभतो भाग विमुत्तो, पञ्ञाविमुत्तो, कायसक्खी, दिट्ठिप्पत्तो, सद्धा विमुत्तो, धम्मानुसारी, सद्धानुसारी विमुत्तो।

उदकूपम सुत्त में सात प्रकार के पुद्गल हैं जिनकी उपमा पानी से दी गई है। जो पानी में डूबा है और डूबा ही रहता है, जो पानी से ऊपर आकर पुनः डूब जाता है, पानी से ऊपर आकर स्थित रहता है, पानी से ऊपर आकर विशेष रूप से देखता है, पानी के ऊपर आकर तैरता है, पानी के ऊपर तैर कर स्थान विशेष पर पहुंचकर रुक जाता है और ऊपर आकर तैरकर, पार जाकर स्थल पर जा खड़ा होता है।[2]

यहाँ पर अकुशल कर्म को पानी कहा गया है, पानी पर स्थित होना श्रद्धा से युक्त होना है और जब श्रद्धा घटने की स्थिति में नहीं हो तो उसे ही कुशल धर्म में प्रतिष्ठित होना कहा गया है।

अनिच्चानुपस्सी सुत्त, दुक्खानुपस्सी सुत्त तथा **अनत्तानुपस्सी सुत्त**[3] में वस्तुओं के तीन लक्षणों को कहा गया है।

बोज्झङ्गसुत्त[4] में सात बोध्यंगों का उल्लेख है। इन सातों कुशल धर्मों की सतत भावना से भिक्षु की आध्यात्मिक वृद्धि ही होगी, हानि नहीं। देवता वग्ग के **अप्पमाद गारव सुत्त** में जिन सात धर्मों का उल्लेख है और जो भिक्षु की उन्नति के लिए होते हैं उनमें तीन धर्म ऐसे हैं जिनका सीधा संबंध अभिधम्म से है। ये तीन बातें हैं समाधि का गौरव, अप्रमाद का गौरव तथा मैत्रीभाव का गौरव। समाधि अष्टांगिक मार्ग का एक महत्वपूर्ण अंग है जिसके बिना प्रज्ञा की प्राप्ति नहीं हो सकती और बिना अप्रमाद के समाधि नहीं हो सकती। अप्रमाद एक ऐसा धर्म है जिसमें सारे धर्म समा जाते हैं।

कौन सा भिक्षु चित्त को वश में करता है और चित्त के वश में नहीं होता, इसका उल्लेख **पठम वससुत्त** और **दुतिय वससुत्त**[5] में किया गया है। जो भिक्षु समाधि कुशल होता है, समाधि की समापत्ति में कुशल होता है, समाधि की स्थिति में कुशल होता है, समाधि से उठने में कुशल होता है, समाधि को सफल बनाने में कुशल होता

1. वही, 162
2. वही, 162-163
3. वही, 165
4. वही, 175
5. वही, 185

है, समाधि की गोचरता में कुशल होता है और समाधि के अभिनीहर में कुशल होता है। उस भिक्षु के वश में उसका चित्त रहता है। भिक्षुओं के विशिष्ट गुण बताने के क्रम में जिन विशेषताओं का उल्लेख किया गया हे वे है श्रद्धावान होना, लज्जाशील होना, पापभीरु होना, बहुश्रुत होना, प्रयत्नशील होना, स्मृतिमान होना तथा प्रज्ञावान होना। ये सभी कर्म अभिधम्म से ही संबंधित हैं। इनमें कुछ तो चैतसिक हैं। **समाधि परिक्खार सुत्त**[1] में समाधि के सात परिक्खार बताए गये हैं। **पठमअग्गि सुत्त** में जिन सात अग्नियों की चर्चा की गई है उनमें राग अग्नि, द्वेष अग्नि और मोह अग्नि भी है जो अकुशल कर्मों के मूल हैं। **पठम सञ्ञा सुत्त** एवं **दुतिय सञ्ञा सुत्त**[2] में सात प्रकार की संज्ञाओं को भावित करने के लिए कहा गया है। इनका उल्लेख पिछले पृष्ठों में हुआ है।

जिन सात धर्मों के भग्न होने से कोई व्यक्ति भिक्षु बनता है, वे हैं सत्काय दृष्टि, विचिकित्सा, शीलव्रतों में गहरी आसक्ति, राग, द्वेष, मोह और मान। आहुनेय्य वग्ग[3] में यह दिखाया गया है कि जो व्यक्ति चक्षु, श्रोत, घ्राण, जिह्वा, काय तथा मन में तथा इनके विषयों में, इनसे संबंधित विज्ञानों में, इनके स्पर्शो में, इनके संस्पर्श से उत्पन्न वेदनाओं में, रूप, शब्द, गन्ध आदि संज्ञाओं में, रूप संचेतना, शब्द संचेतना, गंध संचेतना आदि में, रूप तृष्णा, शब्द तृष्णा, गंध तृष्णा आदि में क्षय को देखता है, वय को देखता है, वह विराग को देखता है, निरोध को देखता है और प्रतिनिसर्ग को देखते हुए विहार करता है, ऐसे पुरुष सत्करणीय हैं, गुरुकरणीय हैं।

राग पेय्याल में राग को अच्छी तरह जानने के लिए जिन सात धर्मों की भावना करने को कहा गया है वे सात बोध्यंग हैं तथा सात संज्ञायें हैं। इन संज्ञाओं की चर्चा ऊपर हो चुकी है। राग को अच्छी तरह जानकर इसके परिक्षय, प्रहाण, क्षय, वय, निरोध, विराग, त्याग आदि के लिए ये ही सात धर्म भावेतव्य हैं। इसी तरह और धर्मों के बारे में भी जानना चाहिए। इस तरह हम देखते हैं कि सातवें निपात में भी अभिधम्म के तत्व बिखरे पड़े हैं।

अंगुत्तर निकाय के अट्ठक निपात के प्रथम सुत्त में मेत्ता का उल्लेख है जो चार ब्रह्मविहारों में से एक है। दूसरे सुत्त में प्रज्ञा की प्राप्ति कैसे हो सकती है इसका विस्तार से वर्णन है। इसी सुत्त में पांच उपादान स्कन्धों का वर्णन है। इसी सुत्त में

1. वही, 190
2. वही, 195
3. वही, 273

उपादान स्कन्धों के उदय और व्यय की अनुपश्यना की बात कही गई है।[1] महावग्ग के **वेरञ्ज सुत्त**[2] में चार प्रकार के रूपावचर ध्यानों का उल्लेख है। इसी सुत्त के अन्त में चार आर्यसत्यों का और आस्रव, आसव के समुदय, निरोध और आश्रव निरोध-गामिनीप्रतिपदा की बात कही गई है। **सीहसुत्त** में चार आर्यसत्यों के उल्लेख के साथ-साथ अभिधम्म की एक गहन बात बताई गई है जिसका संबंध प्रतीत्यसमुत्पाद से है। जो कुछ समुदयधर्मा है वह निरोधधर्मा भी है। कारण से कार्य होता है। कारण के न रहने पर कार्य नहीं होता।

यं किञ्चि समुदयधम्मं सब्बं तं निरोध धम्मं।[3]

महावग्ग के **पहाराद सुत्त** में चार सतिपट्ठान, चार सम्मप्पधान, चार इद्धिपाद, पांच इन्द्रिय, पांच बल, सात बोज्झंग और आर्य अष्टांगिक मार्ग का उल्लेख है। इस तरह सैंतीस बोधिपक्षीय धर्मों का यहाँ पर उल्लेख है।[4]

पठम हत्थक सुत्त एवं **दुतिय हत्थक सुत्त** में कुछ चैतसिकों का जैसे हिरि, ओतप्प, पञ्ञा आदि का उल्लेख है।[5] **दुतिय बल सुत्त** में यह बताया गया है कि जो क्षीणास्रव भिक्षु हैं उनके सैंतीस बोधिपक्षीय धर्म भावित होते हैं, सुभावित होते हैं।[6] **अनरुद्धमहावितक्क सुत्त** में चार प्रकार के रूपावचर ध्यानों का तथा ध्यानांगों का उल्लेख है।[7] **दुच्चरित विपाक सुत्त** में तीन अकुशल काय कर्मों, चार अकुशल वची कर्मों एवं सुरामेरय्य पान का उल्लेख है अर्थात यहाँ पर शील का वर्णन है।[8] **सङ्खित्तूपोसथ सुत्त** एवं **वित्थतूपोसथ सुत्त** में शील का विस्तार से उल्लेख है।[9] **उज्जय सुत्त** में चार सम्पदाओं का उल्लेख है। भूमि चाल वग्ग के **संखित्त सुत्त** में चार अनुपश्यनाओं का उल्लेख है।[10] **अभिभायतन सुत्त** में आठ अभिभायतनों का उल्लेख है।[11] **विमोक्ख सुत्त** में आठ विमोक्खों का उल्लेख है। आठ विमोक्खों में

1. वही, अट्ठकनिपात 3.6
2. वही, 19.24
3. वही, 31
4. वही, 38-43
5. वही, 53-55
6. वही, 57
7. वही, 63-64
8. वही, 78
9. वही, 81-83
10. वही, 124-126
11. वही, 128

चार अरूपावचर ध्यान की भी बात आती है। सतिवग्ग के **सति सम्पजञ्ञ सुत्त** में सति सम्पजञ्ञ के साथ-साथ हिरी, ओतप्प, इन्द्रिय संवर, शील समाधि, यथाभूत ज्ञान दर्शन, निब्बिदा, विराग, विमुक्ति ज्ञान दर्शन का उल्लेख है।[1] **मूलक सुत्त** में ऐसा बताया गया है कि सभी धर्मों का मूल है छन्द। **छन्दमूलका सब्बे धम्मा**। सभी धर्म मन से उत्पन्न होते हैं। **मनसिकारसंभवा सब्बे धम्मा**। सभी धर्मों का उदय स्पर्श से होता है-**फस्ससमुदया सब्बे धम्मा**, सभी धर्म वेदनाओं में आ मिलते हैं- **वेदनासमोसरना सब्बे धम्मा**। समाधि सभी धर्मों में प्रमुख है-**समाधिप्पमुखा सब्बेधम्मा**, स्मृति सभी धर्मों में प्रधान है- **सताधिपतेय्या सब्बे धम्मा**, सभी धर्मों में श्रेष्ठतम प्रज्ञा है-**पञ्ञुतरा सब्बे धम्मा**, और सभी धर्मों का सार विमुक्ति है- **विमुत्तिसारा सब्बे धम्मा**।[2]

यहाँ जिन धर्मों का उल्लेख है उनसे स्पष्ट है कि अभिधम्म की ही बातें बताई गई हैं। राग, पेय्याल में अष्टांगिक मार्ग, आठ विमोक्ख तथा कई चैतसिकों का भी उल्लेख है।

नवक निपात के कई सुत्तों में भी अभिधम्म की ही बातें कही गई हैं। संबोधि वग्ग के **संबोधि सुत्त** में कहा गया है कि राग के प्रहाण के लिए अशुभ की भावना करनी चाहिये, व्यापाद के प्रहाण के लिए मेत्ता की भावना करनी चाहिए, वितर्क के उच्छेद के लिए आनापान के लिए अनित्य संज्ञा की भावना करनी चाहिए।[3] यही बात **मेघिय सुत्त** में भी कही गई है। **बल सुत्त** में प्रज्ञा बल और वीर्य बल का उल्लेख है जो अभिधम्म में वर्णित है। **अस्सखलुङ्क सुत्त** में चार आर्यसत्यों का उल्लेख है।[4] **तण्हामूलक सुत्त** में तृष्णा जन्य धर्मों का उल्लेख है। **अनुपुब्ब विहार सुत्त** में नौ विहारों का उल्लेख है। ये नौ विहार हैं- चार रूपावचर ध्यान, चार अरूपावचर ध्यान तथा संज्ञावेदयितनिरोध।[5] **गावीउपमा सुत्त** में चार रूपावचर ध्यानों, चार अरूपावचर ध्यानों के अतिरिक्त छः अभिज्ञाओं का भी उल्लेख है।[6] इन सबों का वर्णन कई और सुत्तों में भी आया है।[7] सतिपट्ठान वग्ग के सुत्तों में चार सतिपट्ठानों का, पांच कामगुणों

1. वही, 156
2. वही, 158
3. वही, ननक निपात 172
4. वही, 208
5. वही, 219
6. वही, 225-228
7. देखिये, तपस्सु सुत्त आदि

का, पांच उपादानों, का पांच ओरम्भागीय संयोजनों का, पांच उद्धम्भागीय संयोजनों का उल्लेख है।[1]

सम्मपप्पधान वग्ग के सुत्तों में चार सम्यक प्रधानों का और इद्धिपाद वग्ग के सुत्तों में चार ऋद्धिपादों का उल्लेख है। अन्त में राग पेय्याल में राग की पूरी जानकारी के लिए जिन नौ धर्मों की भावना करने के लिए कहा गया है वे हैं- असुभ सञ्ञा, मरणसञ्ञा आहारे पटिकूल सञ्ञा आदि।

इस तरह हम देखते हैं कि इन दोनों निपातों में भी अभिधम्म के ही तत्व भरे पड़े हैं।

दसक निपात में दस-दस धर्मों को लेकर दिये गये उपदेश संगृहीत हैं। आनिसंस वग्ग के **किमत्थिय सुत्त** में प्रमोद, प्रीति, प्रश्रब्धि, सुख, समाधि, यथाभूत ज्ञानदर्शन, निर्वेद, वैराग्य, विमुक्ति ज्ञान दर्शन आदि के बारे में सविस्तार चर्चा है। इस सुत्त में दिखाया गया है कि कुशल शीलों के क्या लाभ हैं, प्रमोद और प्रीति कैसे उत्पन्न होती है, प्रश्रब्धि कैसी होती है और समाधि कैसे प्राप्त की जा सकती है।[2] **चेतनाकरणीय सुत्त** में ऐसा दिखाया गया है कि जो शील सम्पन्न है उसको मन में ऐसा सोचने की आवश्यकता नहीं है कि मुझमें विप्रतिसार उत्पन्न न होवे। यह तो धर्मता है कि जो शीलसंपन्न होगा उसमें विप्रतिसार की उत्पत्ति नहीं होगी और जिसमें विप्रतिसार की उत्पति नहीं होगी उसमें प्रमोद उत्पन्न होगा ही और प्रमोद से प्रीति, प्रीति से प्रश्रब्धि, प्रश्रब्धि से सुख, सुख से समाधि, समाधि से यथाभूत ज्ञान, यथाभूत ज्ञान से निर्वेद वैराग्य और निर्वेद वैराग्य से विमुक्ति ज्ञान दर्शन होगा ही-यही धर्मता है।[3]

जो शील विपन्न है उसको विप्रतिसार तो होगा ही उसमें प्रमोद नहीं होगा, प्रीति आदि नहीं होगी...विमुक्ति ज्ञान दर्शन नहीं होगा-यही धर्मता है।[4]

जो शील सम्पन्न है उसको ये सारी चीजें प्राप्त होंगी-यह धर्मता है। नाथवग्ग के **पञ्चङ्ग सुत्त** में केवली की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि जो भिक्षु पांच अंगों से विप्रयुक्त है और पांच अंगों से सम्प्रयुक्त वही केवली है। कामच्छन्द, व्यापाद आदि पांच नीवरणों से विप्रयुक्त और अशैक्ष्य शीलस्कन्ध, अशैक्ष्य समाधि स्कन्ध, अशैक्ष्य प्रज्ञा स्कन्ध, अशैक्ष्य विमुक्ति स्कन्ध और अशैक्ष्य विमुक्ति ज्ञान दर्शन स्कंध से जो समन्वागत है वही केवली है।[5] संयोजन उसे कहते हैं जो दो अस्तित्वों को जोड़ता है

1. वही, पृ० सं० 262-264
2. अं. नि. दसकनिपात 2
3. वही, 3
4. वही, 4
5. वही, 14

अर्थात् जिसकी वजह से मनुष्य को दूसरा जन्म ग्रहण करना पड़ता है। संयोजन दस हैं- रूप राग, अरूपराग आदि।[1]

अप्पमाद सुत्त में यह कहा गया है कि अप्रमाद सभी कुशल धर्मों का मूल है और सभी कुशल धर्मों का अन्त प्रमाद है। एक बहुत ही अच्छी उपमा से यह बात समझाई गई है। कहा गया है कि जैसे हाथी के पैर में सभी जानवरों के पैर समा जाते हैं उसी तरह सभी कुशल धर्म अप्रमाद में समा जाते हैं। अर्थात् सभी कुशल धर्म अप्रमादमूलक हैं। और भी कई उपमाओं से इस बात को समझाया गया है।[2] **दुतिय अरियवास सुत्त** में दस आर्य वास बताए गये हैं। पांच अंगों से विप्रहीण होना, छः अंगों से समन्वागत होना, सुविमुक्तप्रज्ञ होना, ये सभी आर्यवास हैं। पांच अंगों से विप्रहीण होने का अर्थ पांच नीवरणों से छुटकारा पाना है और छः अंगों से समन्वागत होने का अर्थ है इन्द्रियों से उनके विषयों को देखकर न प्रसन्न होना, न दुःखी होना, बल्कि स्मृतिमान और सम्प्रज्ञानी होकर उपेक्षापूर्वक विहार करना होता है। **सीहनाद सुत्त** में तथागत के दस बल बताए गये हैं। **कायसुत्त** में काय से प्रहातव्य वाणी से प्रहातव्य तथा ऐसे धर्मों को जो न तो काय से और न वाणी से बल्कि प्रज्ञा से प्रहातव्य है कहा गया है।

कसिण सुत्त में दस कसिणों का उल्लेख है। कसिण का अर्थ है ध्यान का विषय जिस पर साधक ध्यान केन्द्रित करता है। ये हैं पृथ्वीकसिण, जलकसिण, अग्नि कसिण, वायु कसिण, नील कसिण, पीत कसिण, लोहित कसिण, अवदात कसिण, आकाश कसिण और विज्ञान कसिण।[3] **पठम कोसलसुत्त** में दस कसिणों तथा आठ अभिभायतनों का उल्लेख है। **दुतिय कोसलसुत्त** में छः अभिज्ञाओं का उल्लेख है।[4] सचित्त वग्ग के **मूलक सुत्त** में ऐसा उल्लेख है कि सभी धर्मों का मूल छन्द है, सभी धर्म मन से उत्पन्न होते हैं आदि। इन आठों धर्मों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। यहां पर दूसरी और बातें कही गई हैं। वे हैं सभी धर्म अमृत के समान दवा की तरह हैं और सभी धर्मों का पर्यवसान निर्वाण में होता है।[5] **पठम सञ्ञा सुत्त** में दस संज्ञाओं का उल्लेख है।[6] इन संज्ञाओं का विस्तार से वर्णन **गिरिमानन्द सुत्त**[7] में किया गया है।

1. वही, 15
2. वही, 18-19
3. वही, 39
4. वही, 53-54
5. वही, 88
6. वही, 88
7. वही, 90-93

यमक वग्ग के **अविज्जा सुत्त** में प्रतीत्यसमुत्पादीय पद्धति से अविद्या की उत्पत्ति बताई गई है। अविद्या पांच नीवरणों के कारण होती है और पांच नीवरण तीन दुष्कर्मों से, तीन दुष्कर्म इन्द्रिय असंवर से और इन्द्रिय असंवर, अस्मृति और असम्प्रज्ञान से, अस्मृति और असम्प्रज्ञान अयोनिसोमनसिकार से और अयोनिसोमनसिकार अश्रद्धा से और अश्रद्धा, असद्धर्म श्रवण से और असद्धर्म श्रवण, असत्पुरुष सेवन से। एक जगह इसी सुत्त में विद्या विमुक्ति का प्रत्यय, सात बोध्यंगों का प्रत्यय, चार स्मृति उपस्थान का प्रत्यय, कायिक वाचिक और मानसिक सुकर्म का प्रत्यय, इन्द्रियसंवर, इन्द्रिसंवर का प्रत्यय, स्मृति सम्प्रज्ञान, स्मृति सम्प्रज्ञान का प्रत्यय, योनिसोमनसिकार, योनिसोमनसिकार का प्रत्यय, श्रद्धा, श्रद्धा का प्रत्यय सद्धर्मश्रवण और सद्धर्म श्रवण का प्रत्यय, सत्पुरुष संसेवन इस तरह अभिधम्म की गहरी बातों को यहां दर्शाया गया है।[1] **तण्हा सुत्त** में भी तृष्णा की उत्पत्ति विद्या की तरह ही बताई गई है।[2] **निट्ठंगत सुत्त** में दस प्रकार के पुद्गलों का उल्लेख है, सात बार जन्म लेने वाला कोलंकोल, एकबीजी सकदागामी आदि।[3] **दुतिय कथावत्थु सुत्त** में अल्पेच्छता, सन्तुष्टि, प्रविवेक, शीलसम्पन्नता, समाधिसम्पन्नता आदि का भी उल्लेख है। **खीणासव बल सुत्त** में उन सभी बलों की चर्चा है जो तथागत बल कहे जाते हैं जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। **आहुणेय्य सुत्त** में उन दस गुणों की चर्चा है जिनके रहने से भिक्षु आदरणीय, वन्दनीय और सत्करणीय होते हैं। **उपालि सुत्त** में शील समाधि आदि का विस्तार से वर्णन है।

समनसञ्ञा वग्ग के **बोज्झंग सुत्त** में सात बोज्झंगों का तथा **मिच्छत्त सुत्त** में अष्टांगिक मार्ग का उल्लेख है। पठम पच्चोरोहणि वग्ग के **ओरिमतीर सुत्त** में मिच्छादिट्ठि को ओरिम और सम्मादिट्ठि को पारिम कहा गया है। उसी तरह और धर्मों के बारे में उल्लेख है।[4] **पुब्बङ्गम सुत्त** में कहा गया है कि सूर्योदय के पूर्व जैसे आकाश में ललाई छा जाती है, उसी तरह कुशल धर्म के पहले सम्यक दृष्टि हो जाती है और सम्यक दृष्टि के पहले सम्यक संकल्प आदि।[5] **आसवक्खय सुत्त** में आश्रवों के क्षय के लिए जिन दस धर्मों को भावित करने के लिए कहा गया है उनमें अष्टांगिक मार्ग है और उनके अतिरिक्त सम्यक ज्ञान और सम्यक विमुक्ति है। इन

1. वही, 93-96
2. वही, 96-98
3. वही, 99
4. वही, 199-200
5. वही, 203

दस धर्मों की चर्चा परिसुद्ध वग्ग के कई सुत्तों में आई है। पुग्गल वग्ग में ऐसे पुद्गलों की संगति नहीं करने के लिए कहा गया है जो इन दस धर्मों से युक्त नहीं है। जाणुस्सोणि वग्ग के **पठम अधम्म सुत्त** और **दुतिय अधम्म सुत्त** में शीलों का उल्लेख है। इनका उल्लेख कई और सुत्तों में आया है। साधु वग्ग में साधु-असाधु, आर्य-अनार्य, कुशल-अकुशल, अर्थ-अनर्थ, धर्म-अधर्म, साश्रव-अनाश्रव, सावद्य-अनवद्य, तपनीय-अतपनीय आदि धर्मों की विस्तार से संगणना की गई है। राग पेय्याल में राग की अभिज्ञा के लिए जिन दस धर्मों की भावना करने के लिए कहा गया है वे हैं दस संज्ञाएं। लेकिन इसमें कुछ विभिन्न प्रकार की संज्ञाओं का नाम भी आया है। अनिच्च सञ्ञा, अनत्त सञ्ञा, आहारे पटिकूल सञ्ञा, विनीलक सञ्ञा, विपुब्बक सञ्ञा, विच्छिद्दक सञ्ञा और उद्धमातक सञ्ञा हैं। ये सब मृत शरीर के अलग अलग रूप हैं।

एकादका निपात के निस्सय वग्ग का पहला पांच सुत्त दशक निपात के आनिसंस वग्ग के प्रथम पांच सुत्त के समान हैं। इन सुत्तों में भी एक अच्छी उपमा के सहारे यह बात बताई गई है कि कुशल शील के पालन से विप्रतिसार नहीं होगा और विप्रतिसार नहीं होने से प्रमोद होगा आदि। और जो दु:शील है उसमें ये सब धर्म नहीं पाये जायेंगे। बल्कि इन धर्मों के विपरीत जो धर्म हैं वही उत्पन्न होंगे। **पठम उपनिसा सुत्त, दुतिय उपनिसा सुत्त, ततिय उपनिसा सुत्त** में इसी बात का विस्तार है। जैसे कोई वृक्ष शाखा पत्र सम्पन्न है तो उसमें छिलका भी भरपूर होगा, चमड़ा भी भरपूर होगा, असार लकड़ी भी भरपूर होगी और सार लकड़ी भी भरपूर होगी। लेकिन यदि शाखा और पत्र ही नहीं हैं तो न उसमें पपड़ी होगी, न चमड़ी होगी, न असार होगा न सार लकड़ी ही होगी। इन सुत्तों में भी एक तरह से कारण कार्य संबंध दर्शाया गया है। कैसे एक कुशल धर्म दूसरे कुशल धर्म पर निर्भर करता है तथा कैसे एक अकुशल धर्म दूसरे अकुशल धर्म के प्रत्यय से उत्पन्न होता है- यही बात बताई गई है।

सञ्ञा सुत्त में चार अरूपावचर ध्यान का उल्लेख है।[1] इन ध्यानों का उल्लेख **सद्ध सुत्त** में भी है।[2] अनुस्सति वग्ग के **पठम महानाम सुत्त** में बुद्ध धर्म और संघ के गुणों को दर्शाया गया है।[3] **सुभूति सुत्त** में छः अभिज्ञाओं का उल्लेख है। **अट्ठक नागर सुत्त** में चार ब्रह्मविहार तथा चार अरूपावचर ध्यान का उल्लेख है।[4] इसी वर्ग

1. वही एकादसकनिपात 286-287
2. वही, 290-291
3. वही, 295-297
4. वही, 308

के समाधि सुत्तों में समाधियों का उल्लेख है, सामञ्ञ वग्ग में उन ग्यारह धर्मों का उल्लेख है जिनसे समन्वागत भिक्षु अनित्य, दुःख, अनात्म, क्षय, वय, विराग, निरोध, प्रतिनिसर्ग की अनुपश्यना करते हुए विहार करता है। इतना ही नहीं ऐसा वह सभी इन्द्रियों, इन्द्रियों के विषयों, इन्द्रिय विज्ञानों, इन्द्रिय स्पर्शों, इन्द्रिय स्पर्श जन्य वेदनाओं, इन्द्रिय विषयों, इन्द्रिय विषय संज्ञाओं, संचेतनाओं में अनित्य, दुःख अनात्म, क्षय, वय, विराग निरोध, प्रतिनिसर्ग को देखते हुए विहार करता है। राग पेय्याल में ऐसा उल्लेख है कि राग को अच्छी तरह से जानने के लिए ग्यारह धर्मों की भावना करनी चाहिए। चार ध्यानों की, मेत्ताचित्त विमुक्ति, करुणा चित्त विमुक्ति, मुदिता चित्त विमुक्ति, उपेक्खा चित्त विमुक्ति और आकासानञ्चायतन विञ्ञाणानञ्चायतन तथा आकिञ्चायतन की भावना करनी चाहिए। इसी तरह द्वेष, मोह, क्रोध, उपनाह, म्रक्ष, ईर्ष्या, मात्सर्य, माया, प्रमाद आदि की परिज्ञा, परिक्षय, क्षय, वय, विराग, निरोध, त्याग और प्रतिनिसर्ग के लिए इन्हीं ग्यारह धर्मों की भावना करनी चाहिए।

जो बातें ऊपर दर्शायी गई हैं उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि अंगुत्तर निकाय के सुत्तों में शील, समाधि, प्रज्ञा, नीवरण, ध्यानांग, कुशल-अकुशल मूल, कुशल अकुशल चैतसिक, ब्रह्मविहार आदि का वर्णन है। स्पष्ट है कि ये सारे के सारे अभिधम्म के तत्व हैं। इसलिए यह स्वतः प्रमाणित हो जाता है कि अभिधम्म पिटक की पुस्तकें बाद में प्रणीत की गईं लेकिन अभिधम्म के लगभग सारे के सारे तत्व सुत्तपिटक के सुत्तों में न्यूनाधिक मात्रा में भरे पड़े हैं। भगवान बुद्ध के उपदेशों का ताना-बाना ही अभिधम्म के तत्व हैं। जिस निर्वाण की प्राप्ति के लिए, दुःख का अन्त करने के लिए उन्होंने ब्रहचर्य वास करने को कहा इसके लिए शील का पालन, समाधि का अभ्यास और प्रज्ञा की प्राप्ति अत्यन्त आवश्यक है। अष्टांगिक मार्ग जो निर्वाण की ओर ले जाने वाला मार्ग है उस पर ये तीन महत्वपूर्ण मील के पत्थर हैं। कैसे शील के पालन करने से समाधि प्राप्त होती है, दोनों में क्या संबंध है, कैसे समाधि के अभ्यास से प्रज्ञा की प्राप्ति होती है, इन सारी बातों का बड़ा ही युक्तिसंगत वर्णन प्रतीत्यसमुत्पाद के आलोक में, कारण कार्य-नियम के आलोक में भगवान बुद्ध तथा उनके शिष्यों ने किया है। सुत्तपिटक के सुत्तों में हम यही बात जगह-जगह पर देखते हैं। इसलिए यह कहना असमीचीन नहीं होगा कि अभिधम्म पिटक का विकास सुत्त पिटक में पाए जाने वाले अभिधम्म तत्व के विवेचन, विश्लेषण एवं वर्गीकरण पर आधारित है।

सप्तम अध्याय

खुद्दक निकाय के सभी ग्रंथों में सीधे-सीधे अभिधम्म के तत्त्व उतने स्पष्ट नहीं दिखाई पड़ते लेकिन जहाँ तक बुद्ध के उपदेशों की बात है, जहाँ तक बौद्ध दर्शन की बात है, उनमें भला अभिधम्म के सिवा और क्या बातें हो सकती हैं? अभिधम्म का अर्थ ही उच्चतर धर्म है और जहाँ कहीं भी भगवान बुद्ध ने उपदेश दिये हैं- उनमें उच्चतर धर्म की बातें ही प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में हैं। इनके सिवा बौद्ध साहित्य में और क्या हो सकता है।

खुद्दक निकाय की सभी पुस्तकों का अनुशीलन तो हम यहाँ नहीं करेंगे, किन्तु कुछ महत्वपूर्ण पुस्तकों में अभिधम्म के तत्वों को देखने का प्रयास करेंगे।

खुद्दक निकाय की प्रथम पुस्तक खुद्दक पाठ है। इसमें मात्र नौ सुत्त हैं, पर यहाँ भी कुछ सुत्तों में आभिधार्मिक तत्व हैं। **दस सिक्खापद**[1] में प्राणातिपात आदि दस शीलों का उल्लेख है। शील समाधि की आधार शिला है और समाधि प्रज्ञा की प्राप्ति में सहायता करती है। पुन: **कुमार पञ्ह** में, नामरूप, तीन वेदनाओं, चार आर्यसत्यों, पाँच उपादान स्कन्धों, छ: आन्तरिक आयतनों, सात बोध्यंगों, आर्य अष्टांगिक मार्ग आदि का उल्लेख भर है जो सभी अभिधम्म के ही तत्व हैं।

रतन सुत्त[2] में भी समाधि, आठ प्रकार के पुद्गलों, चार आर्यसत्यों, कुछ संयोजनों जैसे सत्काय दृष्टि, विचिकित्सा एवं शीलव्रत तथा तीन प्रकार के अकुशल कर्मो का उल्लेख है। **मेत्तसुत्त** में मेत्ता ब्रह्मविहार का वर्णन है।[3]

सुत्तनिपात खुद्दक निकाय का अतिमहत्वपूर्ण ग्रंथ है। विचारों तथा भाषा की दृष्टि से यह अति प्राचीन भी कहा जाता है।[4]

उरगसुत्त में क्रोध, राग, तृष्णा, मान, वितर्क, अनुशय, दरथजा, बनथजा (तृष्णा) नीवरण आदि को लेकर दिया गया उपदेश है। भगवान ने कहा है कि जो भिक्षु

---

1. खु. पा., 2
2. वही, 3
3. वही, 11-12
4. सुत्तनिपात, (हिन्दी रूपान्तरण), लेखक यू धम्मरतन।

उपर्युक्त अकुशल धर्मों को छोड़ देता है, वह पार चला जाता है, इस पार से उस पार, तृष्णा और दुःख के पार।

खग्गविसाण सुत्त में काम-वासना का बड़ा मनोहारी वर्णन है।

कामा हि चित्रा मधुरा मनोरमा, विरूपरूपेन मथेन्ति चित्तं।
आदीनवं कामगुणेसु दिस्वा, एको चरे खग्गविसाणकप्पो।[1]

इस सुत्त में लोभ को, तृष्णा को, सभी प्रकार की काम वासनाओं को, संयोजनों को, नीवरणों को हटाकर चार ब्रह्मविहारों की भावना करने के बारे में कहा गया है। ऐसा ही प्रत्येकबुद्ध करता है और गैंडे के सींग की भांति अकेला विचरण करता है।

रागञ्च दोसञ्च पहाय मोहं, सन्दालयित्वान संयोजनानि।
असन्तसं जीवित सङ्खयम्हि, एको चरे खग्गविसाण कप्पो।।

मेत्तं उपेक्खं करुणं विमुत्तिं, आसेवमानो मुदितञ्च काले।
सब्बेन लोकेन अविरुज्झमानो, एको चरे खग्गविसाणकप्पो।।[2]

धनिय सुत्त में जितने प्रकार की सांसारिक आसक्तियाँ हैं उनको त्यागने का उपदेश भगवान बुद्ध ने दिया है। इस सुत्त में आस्रव का उल्लेख है, जो चार प्रकार के होते हैं।

कसिभारद्वाज सुत्त में भगवान ने अपने कृषि कार्य का अपने को कृषक बताते हुए वर्णन किया है और कहा है कि इस कृषि कार्य में श्रद्धा बीज, तप वृष्टि, प्रज्ञा जुआठ और लज्जा हल का दण्ड मन-बैल को जुआठ से बांधने की रस्सी, स्मृति, फाल और छेकुनी, वीर्य बैल है जो योग-क्षेम (निर्वाण) की ओर ले जा रहा है।

सद्धा बीजं तपो वुट्ठि, पञ्ञा मे युगनङ्गलं।
हिरी ईसा मनो योत्तं, सति मे फालपाचनं।।

विरियं मे धुरधोरय्हं, योगक्खेमं निवाहनं।
गच्छति अनिवत्तन्तं, यत्थ गनत्वा न सोचति।।

इन गाथाओं से स्पष्ट है कि यहाँ कुशल चेतसिकों जैसे श्रद्धा, ह्री, प्रज्ञा, स्मृति तथा कुछ बलों जैसे वीर्य, प्रज्ञा का उल्लेख है। अभिधम्म में चित्त के साथ उत्पन्न होने वाले कुशल और अकुशल चेतसिकों का भी वर्णन है। इस तरह यहाँ अभिधम्म की ही बात दिखलाई पड़ती है। **वसलसुत्त** में वृषल की परिभाषा देते हुए यह कहा

1. खु. नि., 93 देखें, हिन्दी रूपान्तरण।
2. वही, 95-96

गया है कि जो क्रोध, उपनाह, म्रक्ष और माया से युक्त है- जो प्राणी पर दया नहीं करता, जो दूसरे के धन का लोभ करता है और चोरी करता है, जो व्यभिचार करता है, जो झूठी गवाही देता है, जो माता-पिता का भरण-पोषण नहीं करता वही वृषल है। **हेमवत सुत्त** में शील का उल्लेख है और एक गाथा में तो विज्जा और चरण दोनों का उल्लेख है। विज्जा और चरण के अन्तर्गत शील, समाधि और प्रज्ञा की सारी बातें चली आती हैं। **आळवक सुत्त** में श्रद्धा के महत्व पर प्रकाश डाला गया है और इसे श्रेष्ठ धन कहा गया है। श्रद्धावान पुरुष ही संसार-सागर को पार कर सकता है, अप्रमत्त होकर, पराक्रम से और प्रज्ञा से। इसी को दर्शाने के लिए निम्नलिखित गाथा कही गई है-

सद्धाय तरति ओघं, अप्पमादेन अण्णवं।
विरियेन दुक्खमच्चयेति, पञ्ञाय परिसुज्झति।।

विजय सुत्त में अनित्यता का वर्णन है। **मुनि सुत्त** में मुनि के गुणों का वर्णन करते हुए कुशल धर्मों का उल्लेख किया गया है। **आमगन्ध सुत्त** में शील का वर्णन है। कहा गया है कि जो दुःशील है, पापशील है, प्राणातिपात आदि अकुशल कर्म करने वाला है,जो क्रोधी एवं दम्भी है, अदानशील है, वही वास्तव में हिंसा करने वाला है, मांस भक्षण करने वाला है। **हिरि सुत्त** में लज्जा, जो एक कुशल चेतसिक है, का उल्लेख है। **सूचिलोम सुत्त** में वासनाओं के मूल को दर्शाया गया है। **ब्राह्मणधम्मिक सुत्त** में दुराचार की, दुःशीलता का उल्लेख है तथा यह दिखाया गया है कि दुःशीलता क्या है। **किंसील सुत्त** में शील क्या है इसे बताया गया है। **उट्ठानसुत्त** में प्रमाद को त्यागने की बात कही गयी है। **सम्मापरिब्बाजनीय सुत्त** में राग को प्रहाण करने के लिये, संयोजनों से अपने को मुक्त रखने के लिए, क्रोध, लोभ आदि को छोड़ने के लिये, आश्रवों को क्षय करने के लिये श्रद्धावान बनने के लिए, सभी आयतनों से मुक्त होने के लिये उपदेश दिया गया है। **धम्मिक सुत्त** में शील का पालन तथा आसक्ति के त्याग पर जोर है।

इस तरह हम देखते हैं कि चूलवग्ग के सुत्तों में भी अभिधम्म की ही बातें हैं। महावग्ग के **पधान सुत्त** में मार की सेना का वर्णन करते समय काम एवं तण्हा थीनमिद्ध, विचिकिच्छा एवं मक्खो का उल्लेख है। अभिधम्म के दृष्टिकोण से काम एवं तृष्णा द्वितीय आर्यसत्य है क्योंकि यही दुःख की जननी है, यही पुनर्भविका है, यही अकुशल मूल है और थीनमिद्ध एवं विचिकिच्छा नीवरण हैं तथा म्रक्ष (मक्खो) अकुशल चेतसिक है।

सुन्दरिक भारद्वाज सुत्त में चरण अर्थात् शील और समाधि का, काम तथा संयोजन का उल्लेख है। **माघसुत्त** में राग, द्वेष और मोह को त्यागने की बात कही गई है।

रागञ्च दोसञ्च पहाय मोहं, खीणासवा वुसित ब्रह्मचरिया। इस संदर्भ में कि हव्य का अधिकारी कौन है, भगवान बुद्ध ने वीतलोभ, वीत-तृष्ण, वीतराग आदि होने की बात कही है। वेदगू, ध्यानरत तथा स्मृतिमान होने की बात कही है। **सभिय सुत्त** में स्मृतिमान रहकर इन्द्रियों को भावित करने के लिए कहा गया है। आस्रवों को क्षय करने की बात कही गई है, पटिघ अर्थात् हिंसा से दूर रहने के लिए कहा गया है, उपधि का समतिक्रमण करने के लिए कहा गया है। इस तरह हम देखते हैं कि इन सुत्तों में अकुशल धर्मों की, कुशल धर्मों की, अकुशल-कुशल चैतसिकों की, नीवरणों तथा संयोजनों की बात कही गई है।

सल्ल सुत्त में जीवन की अनित्यता का प्रज्ञापन किया गया है, जैसे कुम्हार द्वारा बनाये गये मिट्टी के भी बर्तन टूट जाने वाले हैं, ऐसा ही प्राणियों का जीवन है।

"यथापि कुम्भकारस्स, कतामत्तिकभाजना।
सब्बे भेदनपरियन्ता, एवं मच्चान जीवितं।"

वासेट्ठ सुत्त में ब्राह्मण की परिभाषा के संदर्भ में अभिज्ञाओं की, आस्रवों की, तृष्णा की, प्रतीत्यसमुत्पाद की चर्चा है। **द्वयतानुपस्सना सुत्त** में प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त के अनुसार दुःख की उत्पत्ति और निरोध पर प्रकाश डाला गया है।

'उपादान पच्चया भवो, भूतो दुक्खं निगच्छति और **एतमादीनवं ञत्वा तण्हं दुक्खस्स सम्भवं'** आदि कथनों में प्रतीत्यसमुत्पाद पर ही प्रकाश पड़ता है। अट्ठक वग्ग के **काम सुत्त** में काम भोगों के दुष्परिणाम और **गुहट्ठक सुत्त** में अनित्यता और संसार की असारता का बखान है। **पुराभेद सुत्त** में ऐसा कहा गया है कि जो वीततृष्ण है, जो क्रोध नहीं करता है, जो लोभी नहीं है जो स्मृतिमान रहकर उपेक्षा का जीवन जीता है वह शांत कहलाता है। **कलहविवाद सुत्त** में फस्स, नामरूप इत्यादि का उल्लेख है। पारायण वग्ग में बावरी ब्राह्मण के शिष्यों द्वारा बहुत ही गंभीर प्रश्न भगवान बुद्ध के समक्ष रखे गये हैं। उनके उत्तर के क्रम में अविद्या, तृष्णा, प्रज्ञा, स्मृति और नामरूप, संयोजन, तृष्णा, निर्वाण आदि का उल्लेख ही नहीं, बल्कि वर्णन भी है।

इस तरह पारायण वग्ग के सुत्तों में भी उच्च धर्म का उपदेश दिया गया है। इसलिए जगह-जगह पर और प्रायः सभी सुत्तों में अभिधम्म के तत्व तो हैं ही।

इतिवुत्तक में चार निपात हैं। पहले निपात के दस सुत्तों में भगवान बुद्ध ने ऐसा कहा है कि भिक्षुओ तुम, लोभ, द्वेष, मोह आदि छोड़ दो, किसी एक धर्म को छोड़ दो तो मैं तुम्हारे अनागामी होने की गारंटी देता हूँ। भगवान ने यही गारंटी क्रोध, म्रक्ष एवं मान आदि के सन्दर्भ में भी दी। **लोभ सुत्त, मोहसुत्त, मोह परिञ्ञा सुत्त, कोध परिञ्ञा सुत्त, अविज्जा नीवरण सुत्त, तण्हा संयोजन सुत्त** आदि सुत्तों से अभिधम्म की ही बात का कहा जाना स्पष्ट होता है। **उभयत्थ सुत्त** में अप्रमाद का महत्व बताया गया है और कहा गया है कि सिर्फ यदि इसी धर्म को भावित किया जाय तो वह इस लोक में भी सुखकारी है और परलोक में भी। **मुसावाद सुत्त** में कहा गया कि जो जानकर कभी झूठ नहीं बोलता, वह पुद्गल कभी पापकर्म नहीं कर सकता। **मेत्ता भावना सुत्त** में मेत्ता ब्रह्मविहार का वर्णन है। दुक निपात के सुत्तों में पाप को बुराई के तौर पर देखकर विरक्त होने की बात कही गई है ताकि मनुष्य विमुक्ति प्राप्त कर सके, इसलिये इन्द्रिय संवर, भोजन में मात्रा का ज्ञान, तीनों अकुशल कर्मों से बचना, स्मृतिमान होना, लज्जाशील होना, संयोजन को काटना, एकान्तवास करना, लोभ, छन्द और अविद्या का प्रहाण करना कहा गया है ताकि मनुष्य निर्वाण प्राप्त कर सके। **पञ्ञापरिहीन सुत्त** में प्रज्ञा को, जो निर्वेदगामिनी है और जिसको अच्छी तरह जानने से भवचक्र समाप्त होता है, संसार में श्रेष्ठ कहा गया है। दुक निपात के सुत्तों में जगह-जगह हिरि, ओतप्प, खीणासव, सति, अप्पमाद और अनुपाधिसेस निब्बान का उल्लेख है। ये सभी अभिधम्म के ही तत्व हैं।

तिक निपात के सुत्तों में तीन अकुशल मूलों, लोभ, द्वेष तथा मोह के, तीन धातुओं-रूप धातु, अरूप धातु, निरोध धातु के, तीन वेदनाओं दुःख सुख और अदुःख सुख के, तीन ऐसनाओं कायेसना, भवेसना, ब्रह्मचर्येसना के, तीन आस्रवों कामास्रव, भवास्रव और अज्जिास्रव के, तीन तृष्णाओं काम तृष्णा, भवतृष्ण, विभव तृष्णा के, तीन दुराचारों कायिक, वाचिक और मानसिक आदि के उल्लेख से स्पष्ट हो जाता है कि सभी जगह अभिधम्म के ही तत्व हैं।

चौथे निपात के सुत्तों में चार आर्यसत्यों का उल्लेख है। इतिवुत्तक में जगह-जगह पर स्मृति, सम्प्रज्ञान एवं विपश्यना से संबंध रखने वाले बहुत से पदों का उल्लेख है जैसे लोभ, द्वेष, मोह, क्रोध, म्रक्ष एवं मान को विपश्यी साधक सम्यक प्रकार से जानकर छोड़ देते हैं (**सम्मदञ्ञाय पजहन्ति विपस्सिनो**), स्मृतिमान और सम्प्रज्ञानी सारे संयोजनों को काट डालता है, (**सम्पजानो पतिस्सतो पापुणे अनुपुब्बेन सब्बसंयोजनखयं**) स्मृतिमान, ध्यानी सम्यक प्रकार से धर्मों की विपश्यना करते हैं (**सतिमन्तो च झायिनो सम्मा धम्मं विपस्सन्ति**) ऐसे उदाहरण हैं जो यह स्पष्ट कर

देते हैं कि इतिवुत्तक में उच्चतर धर्म की ही गंभीर बातें हैं। विपश्यना करने वाले की दृष्टि पैनी हो जाती है। (**सुखुमं दिट्ठि विपस्सकं**)। धर्मों और पांच स्कन्धों के उदय-व्यय को जो सम्यक प्रकार से देखता है उसके बारे में कहा गया है कि "**समवेक्खिता च धम्मानं, खन्धानं उदयव्ययं।**" इन सुत्तों के अनुशीलन से पहली दृष्टि में ही यह कहना क्या युक्तिसंगत नहीं लगता कि सुत्त में अभिधम्म के सिवा कोई और बातें हैं यदि कोई और बातें हैं भी तो उनके केन्द्र में अभिधम्म की ही बातें हैं।

इसी तरह धम्मपद में जगह-जगह पर सभी छब्बीस वर्गों मे उच्च धर्म की ही बातें कही गई हैं। यमक वग्ग की गाथाओं में मन सभी धर्मों का गंगोत्री है, कुशल या अकुशल धर्मों की अर्थात् सभी धर्म मन से निःसृत होते हैं, यह बात बताई गई है। चित्त वग्ग में चित्त की परिभाषा तथा मिथ्या प्रणिहित चित्त और सम्यक प्रणिहित चित्त से क्रमशः हानि और लाभ बताए गये हैं। अप्रमाद वग्ग में अप्रमाद को अमृत पद कहकर इसकी महिमा गाई गई है। पण्डित वग्ग में कामों से दूर रहने वाले, अपने को दमन करने वाले पुरुष को पण्डित कहा गया है, वही क्षीणश्रव है। अरहन्त वग्ग में मन वचन तथा कर्म से जो शांत है तथा जिसकी इन्द्रियाँ शान्त हैं, सुदान्त हैं, जो अच्छी प्रकार से विमुक्त है, जो वीतराग है, उसे ही अरहन्त कहा गया है। बुद्ध वग्ग में तृष्णा को जालिनी कहा गया है, काम को दुःख कहा गया है। पियवग्ग में तृष्णा से कैसे शोक और भय उत्पन्न होते हैं और तृष्णा नहीं रहने पर शोक और भय कैसे अन्तर्धान हो जाता है, यह बात बताई गई है। कोध वग्ग में क्रोध से मुक्ति पाने के लिए काय संवृत, वची संवृत तथा मनसा संवृत होने का उल्लेख है। मल वग्ग में राग को अग्नि, द्वेष को घड़ियाल, मोह को जाल और तृष्णा को नदी के रूप में बताया गया है। मग्ग वग्ग में सभी संस्कारों को अनित्य, दुःख एवं अनात्म कहा गया है। **सब्बे सङ्खारा अनिच्चा ति, सब्बे सङ्खारा दुक्खाति सब्बे धम्मा अनत्ताति।** तण्हा वग्ग में तृष्णा का विस्तार से वर्णन है और यह कहा गया है कि जो सब कुछ छोड़ देता है, राग लिप्त नहीं होता, अनपेक्षी होता है वही सब दुःखों का प्रहाण कर, तृष्णा का क्षय कर विमुक्त होता है। भिक्खु वग्ग में इन्द्रियसंवर की महिमा गाई गई है तथा विपश्यना क्या है, यह कहा गया है।

यतो यतो सम्मसति, खन्धानं उदयव्ययं।
लभती पीति पामोज्जं, अमतं तं विजानतं।।

ब्राह्मण वग्ग में बहुत सारे ब्राह्मण कारक धर्मों का उल्लेख है। राग, द्वेष मोह का न होना, मान, म्रक्ष का न होना, आसक्ति नहीं रखना, काम, भव और तृष्णा भव को क्षय करना, शील का पालन करना, संसार से निर्लिप्त रहना, अभिज्ञाओं को जानना ही किसी को ब्राह्मण बनाता है। इस तरह यह स्पष्ट ही है कि धम्मपद की रचना भी अभिधम्म के तत्त्वों के ताने-बाने से हुई है।

उदान में भी अभिधम्म की ही बातें हैं। बोधिवग्ग के **पठमबोधि सुत्त** में प्रतीत्यसमुत्पाद का अनुलोमतः प्रतिलोमतः और अनुलोमतः प्रतिलोमतः वर्णन है।

इति इमस्मिं सति इदं होति। इमस्स उप्पादा इदं उप्पज्जति।[1] जैसे **अविज्जा पच्चया सङ्खारा, सङ्खार पच्चया विञ्ञाणं** आदि। **दुतिय बोधि सुत्त** में प्रतीत्यसमुत्पाद की व्याख्या प्रतिलोमतः की गई है, जैसे- **इति इमस्मिं असति इदं न होति। इमस्स निरोधा इदं निरुज्झति।**[2] जैसे **अविज्जा निरोधा सङ्खार निरोधो, सङ्खार निरोधा, विञ्ञाण निरोधो** आदि। **ततिय बोधि सुत्त** में प्रतीत्यसमुत्पाद को अनुलोमतः प्रतिलोमतः मनन किया गया है जैसे **इति इमस्मिं सति इदं होति, इमस्सुप्पादा इदं उप्पज्जति, इमस्मिं असति इदं न होति, इमस्स निरोधा इदं निरुज्झति।**[3] जैसे **अविज्जा पच्चया संखारा, सङ्खार पच्चया विञ्ञाणं** आदि और **अविज्जाय त्वेव असेस विराग निरोधो सङ्खार निरोधा सङ्खार निरोधा विञ्ञाण निरोधो....जाति निरोधा, जरामरणं सोक परिदेव दुक्खदोमनासुपायासा निरुज्झन्ति।**[4]

बाहिय सुत्त में निर्वाण के बारे में ऐसा कहा गया है-

यत्थ आपो च पथवी तेजो वायो न गाधति,
न तत्थ सुक्का जोतन्ति आदिच्चो नप्पकासति।
न तत्थ चन्दिमा भाति तमो तत्थ न विज्जति।

अर्थात् जहाँ जल, पृथ्वी, अग्नि और वायु नहीं पहुँचते, जहाँ तारे नहीं चमकते, सूर्य जहाँ नहीं चमकता, जहाँ चन्द्रमा का प्रकाश नहीं है और जहाँ अंधेरा नहीं है वहीं निर्वाण है।

विसाखा सुत्त में जो अपने को नियन्त्रण में नहीं रखता, उसे ही दुःखी कहा गया है। **सब्बं परवस्सं दुक्खं सब्बं इस्सरियं सुखं।**[5] **नन्द सुत्त** में भिक्षु की परिभाषा देने के क्रम में पङ्क अर्थात् मोह, अविद्या, काम कण्टक अर्थात् तृष्णा, सुख दुःख आदि का वर्णन है जो उच्चतर धर्म के तत्व हैं। एक जगह **सारिपुत्त सुत्त** में कायगतास्मृति और छः स्पर्शआयतन में संवृत्ति की बात कही गई है। **लोकसुत्त** में ऐसा कहा गया है कि जो यथाभूत देखता है उसकी भव तृष्णा ही प्रहीण होती है। तृष्णाओं का क्षय अशेष विराग निरोध निर्वाण है।

1. उदा., 69
2. वही, 70
3. वही, 71
4. वही, 71
5. वही, 89

एवमेतं यथाभूतं, सम्मप्पञ्ञाय पस्सतो।
भवतण्हा पहीयति, विभवं नाभिनन्दति।।
सब्बसो तण्हाणं खया, असेसविरागनिरोधो निब्बानं।[1]

मेघिय सुत्त में प्रज्ञा का विस्तार से वर्णन है। उदय और व्यय को जानना ही प्रज्ञा है। प्रज्ञा दु:ख क्षय की ओर ले जाने वाली है एवं निर्वेधिका है।

पञ्ञवा होति उदयत्थ गामिनिया पञ्ञाय समन्नागतो अरियाय निब्बेधिकाय सम्मादुक्खक्खयगामिनिया।[2] इसी सुत्त में राग के प्रहाण के लिए अशुभ की, व्यापाद के प्रहाण के लिए मेत्ता की, वितर्क को उपच्छेद करने के लिए आनापान स्मृति की और अस्मिमान के समुद्धात के लिए अनित्य संज्ञा की भावना करने के लिए कहा गया है।[3] **सुप्पबुद्ध कुट्ठि सुत्त** में जो उदय होने वाला है वह नष्ट होने वाला है ऐसे विरज, वीतमल, धर्मचक्षु का उल्लेख है।

यं किञ्चि समुदयधम्मं सब्बं तं निरोधधम्मं ति।[4] **पपञ्चक्खय सुत्त** में यह कहा गया है कि जो नि:तृष्ण है वही मुनि है अर्थात् तृष्णा को दु:खों का मूल बताया गया है। **कच्चान सुत्त** में सतत् स्मृतिमान रहने की प्रशंसा की गई है। **पठमनिब्बानपटिसंयुत्त, दुतियनिब्बान पटिसंयुक्त, ततिय निब्बानपटिसंयुक्त** तथा **चतुत्थनिब्बानपटिसंयुत्त** में निर्वाण का विशद वर्णन है। निर्वाण अजात, अभूत, अकृत और असंस्कृत है। निर्वाण दु:खों का अंत है, निर्वाण आकासानञ्चायतन से अतीत है, न तो यह लोक है न तो परलोक है और न यह चन्द्रसूर्य है। इसलिए इसको न गति कहा जा सकता है न स्थिति, न च्युति, न उत्पत्ति। यह अनारम्मण, अप्रतिष्ठ एवं अप्रवृत्त है।[5]

पठमदब्बसुत्त में निर्वाण के बारे में ऐसा कहा गया है-

अभेदिकायो निरोधि सञ्ञा, वेदना सीतिभविंसु सब्बा।
उपसमिंसु सङ्खारा, विञ्ञाणं अत्थमागमा ।।

अर्थात् जब काया नहीं रहती, संज्ञा का निरोध होता है, सभी वेदनाएँ ठंडी पड़ जाती हैं, संस्कारों का उपशमन हो जाता है और विज्ञान अस्त हो जाता है वही निर्वाण है।

सुत्तों के अनुशीलन से यह साफ है कि सुत्त पिटक का कोई निकाय लिया जाय उसमें अभिधम्म के ही तत्त्व हैं।

---

1. वही, 106
2. वही, 109
3. वही, 110
4. वही, 124
5. वही, 164-165

अष्टम अध्याय–उपसंहार

ऊपर के अध्यायों में हमने पाँचों निकायों के प्रमुख सुत्तों का अनुशीलन किया। इस अनुशीलन से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि अभिम्म पिटक के सातों पुस्तकों की रचना का आधार सुत्त पिटक के पांचों निकायों की पुस्तकें ही हैं। मैं एक बात पर विशेष जोर देना चाहूँगी और विद्वानों का ध्यान आकर्षित करना चाहूँगी कि अभिधम्म और अभिधम्म पिटक में अन्तर करना चाहिए। अभिधम्म वस्तुतः उसी समय उत्पन्न हो गया जब सिद्धार्थ गौतम बुद्ध बने थे और उनको उस गंभीर प्रज्ञा की प्राप्ति हुई थी जिससे उन्होंने चार आर्यसत्यों का, प्रतीत्यसमुत्पाद का तथा सभी वस्तुओं के और धर्मों के त्रिलक्षणात्मक स्वभाव को समझा था। बोधि प्राप्ति के बाद सात सप्ताह तक बोधि वृक्ष के आस-पास चिन्तन करते समय उन्होंने इसी अभिधम्म अर्थात् गंभीर धर्म का विश्लेषण विवेचन किया था। इसलिए यह तो निस्सन्देह ही कहा जा सकता है कि अभिधम्म उतना ही पुराना है, जितना कि बुद्ध की बोधि प्राप्ति।

वस्तुतः अभिधम्म का अर्थ उच्च या विशेष धर्म है। यह बात इस बात से भी प्रमाणित होती है कि सुत्त पिटक के कई सुत्तों में अभिधम्म शब्द का प्रयोग अभिविनय के साथ हुआ है। कुछ विद्वान दीघ निकाय के दसुत्तर सुत्त में आए अभिधम्म शब्द को देखकर बिना अधिक सोचे समझे बड़ी त्वरा के साथ इस नतीजे पर पहुँच जाते हैं कि यह अभिधम्म शब्द अभिधम्म पिटक होने की बात दर्शाता है और यह इसका प्रमाण है। लेकिन यह भूल है। टी० डब्ल्यू रीज डेविड्स जैसे पालि पंडितों ने यह प्रमाणित कर दिखाया है कि इन सुत्तों में प्रयुक्त अभिधम्म शब्द विशेष धर्म या उच्चतर धर्म का द्योतक है। जैसे अभिविनय का अर्थ विनय संबंधी गंभीर उपदेश से है उसी तरह अभिधम्म का अर्थ उच्चतर, अतिरेक या विशेष धर्म से है। अट्ठसालिनी में इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि **अतिरेक विसेसत्थदीपको** ही एत्थ **अभि सद्दो** अर्थात् 'अभि' उपसर्ग यहाँ पर अतिरेक या विशेष अर्थ का द्योतक है और इसका अभिधम्म पिटक से लेना-देना नहीं है।

भगवान बुद्ध ने पैंतालीस वर्षों तक लोगों को जो उपदेश दिये उसका सार है चार आर्यसत्यों को जानना। दुःख के कारण को प्रतीत्यसमुत्पाद के नियम को जानकर

और दुःख निरोध गामिनी प्रतिपदा अर्थात् अष्टांगिक मार्ग पर चलकर दुःखमुक्त होकर भवचक्र समाप्त कर निर्वाण का अधिगम करना है। इसलिए सुत्त पिटक के सुत्तों में बार-बार यही बातें आई हैं। इस दृष्टिकोण से यह कहा जाना बिल्कुल समीचीन है कि अभिधम्म के ही तत्व सुत्त पिटक के सुत्तों में सर्वत्र बिखरे पड़े हैं अर्थात् सारा सुत्त पिटक न्यूनाधिक मात्रा में अभिधम्म से अनुप्राणित है। इस बात की पुष्टि प्रसिद्ध महायानी आचार्य आर्य असंग अभिधम्म शब्द की व्युत्पत्ति करते समय करते हैं। महायान सूत्रालंकार में कहा है कि

अभिमुखतोऽथाभीक्षण्यादभिभवगतितोऽभिधर्मः अर्थात् निर्वाण के अभिमुख उपदेश करने के कारण इसे अभिधम्म कहा गया है, धर्म का अनेक प्रकार से वर्गीकरण करने के कारण अभिधम्म कहा गया है, विरोधी सम्प्रदायों के सिद्धांतों का खण्डन करने के कारण, उन्हें परास्त करने के कारण अभिधम्म कहा गया है तथा सुत्त पिटक के सिद्धांतो का ही अनुगमन करने के कारण अभिधम्म कहा गया है।

आचार्य असंग के इस कथन से भी इस बात की पुष्टि होती है कि अभिधम्म पिटक का आधार सुत्त पिटक ही है। भरत सिंह उपाध्याय ने कहा है कि वास्तव में अभिधम्म में 'अभि' शब्द जो अतिशयता या विशेषता का द्योतक है वह 'धम्म' की नहीं है।

"घम्म तो सर्वत्र एक रस है। किन्तु तीनों पिटकों में उनके वर्गीकरणों में वह नाना रूप हो गया है। जो धम्म सुत्त पिटक में उपेदश रूप है, विनय में जो संयम रूप है, वही अभिधम्म में तत्त्व रूप है। इसका कारण अधिकारियों का तारतम्य ही है। प्रस्थान भेद से धर्म के स्वरूप में भी भेद हो गया है। सुत्तन्त की अधिचित्त शिक्षा यहाँ अधिप्रज्ञा शिक्षा हो गई है, व्यवहार देशना यहाँ परमार्थ देशना हो गई है। इसी प्रकार यदि सुत्तन्त व्यवहार देशना (वोहार देसना) है, विनय आज्ञा देशना (आणादेसना) तो अभिधम्म को उन्होंने माना है उच्चतर परमार्थ देशना (परमत्थ देसना)[1]"

अट्ठसालिनी, मनोरथ पूरणी और विभङ्ग अट्ठकथा में यह बात कही गई है कि भगवान बुद्ध ने सर्वप्रथम अभिधम्म का उपदेश तावतिंस लोक में अपनी माता देवी महामाया को तथा अन्य देवताओं को दिया था। यह कथन थेरवादी परम्परा की उस मानसिकता का प्रतीक है जो अभिधम्म की पुस्तकों को भी गौरव दिलाने के लिए बुद्ध द्वारा ही रचित बताती है। यही कारण है कि बुद्धघोष जैसे महान आचार्य ने भी सुमङ्गल विलासिनी में यह कह दिया कि अभिधम्म पिटक का सङ्गायन प्रथम संगीति

---

1. पालि साहित्य का इतिहास, भरतसिंह उपाध्याय, 369.

में ही हो गया था। उन्होंने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि जिस प्रकार **मधुपिण्डिक सुत्त** या **सम्मादिट्ठिसुत्त** बुद्ध के शिष्यों द्वारा उपदिष्ट होने पर भी बुद्ध द्वारा अनुमोदित किए जाने के कारण बुद्धवचन कहलाते हैं, उसी प्रकार अभिधम्म पिटक के ग्रन्थ कथावत्थु आदि को भी माना जा सकता है।

भरत सिंह उपाध्याय ने ठीक ही कहा है कि यह अनुश्रुति अभिधम्म पिटक की प्रशंसा में अर्थवाद मात्र है। वास्तव में उसी हद तक वह ठीक भी है। वैसे तो उन्होंने भी यह स्वीकार कर ही लिया है कि अभिधम्म पिटक का कम-से-कम एक ग्रंथ 'कथावत्थु' अशोक कालीन रचना है और उसका वर्त्तमान रूप स्थविर मोग्गलिपुत्ततिस्स का दिया हुआ है। बुद्ध के प्रारम्भिक उपदेशों में धम्म और विनय की ही प्रधानता है। ऐसा लगता है कि उन्हीं के आधार पर संगृहीत अभिधम्म को भी उन्हीं के समान प्रमाणवत्ता देने के लिए स्थविरों ने उपर्युक्त अर्थवाद की सृष्टि की है।[1]

अट्ठसालिनी की निदान कथा से यह स्पष्ट है कि उपदेशकों की एक अविच्छिन्न परम्परा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक अभिधम्म को पहुँचाती रही है। वास्तव में अभिधम्म भी तथागत वचन ही है और तृतीय संगीति तक अभिधम्म के उपदेश देने वाले स्थविरों की एक परम्परा है जिसका प्रारम्भ सारिपुत्त से होता है। भिक्षु महेन्द्र अभिधम्म को सीहल द्वीप ले गये थे। जिस रूप में अभी हमें तीनों पिटकों के ग्रंथ उपलब्ध हैं, उनके लेखन का कार्य वट्टगामिणी अभय के समय लगभग 29 ई० पू० में हो गया था। यह सर्वविदित है और इसके लिए प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। इससे इतना तो स्पष्ट ही हो जाता है कि वट्टगामिणी के काल तक अभिधम्म पिटक की सातों पुस्तकों का रूप निश्चित हो गया था। तभी तो इन पुस्तकों का लेखन वट्टगामिणी के समय में हो सका। कहने का तात्पर्य यह है कि इन सातों पुस्तकों का स्वरूप महेन्द्र के लंका जाने के पहले तक अवश्य निश्चित हो चुका होगा क्योंकि परम्परा एवं इतिहास दोनों ही कथावत्थु को अभिधम्म की अन्तिम पुस्तक मानते हैं और इसका प्रणयन अशोक काल में मोग्गलिपुत्ततिस्स ने किया, जैसा ऊपर कहा गया है। महेन्द्र जब धर्मदूत बनकर लंका गए तो वे अवश्य ही अभिधम्म की सातों पुस्तकों का एक निश्चित रूप ले गये होंगे। पांचवी शताब्दी ई० पू० से लेकर अशोक के काल तक एक लंबी अवधि है और स्थविरों की परम्परा ने विभाजन एवं वर्गीकरण करके सुत्त पिटक में पाये जाने वाले अभिधम्म के तत्वों का अभिधम्म पिटक का स्वरूप प्रदान कर दिया होगा।

---

1. वही, 370.

भरत सिंह उपाध्याय ने बहुत से तर्कों के आधार पर अभिधम्म की पुस्तकों का कालक्रम निर्धारित किया है और दिखलाया है कि सातों पुस्तकों में सबसे प्राचीन पुग्गलपञ्ञत्ति है। उसके बाद धम्मसङ्गणि, विभङ्ग, धातुकथा, यमक और पट्ठान है तथा अन्तिम पुस्तक कथावत्थु है।[1]

अभिधम्म का विषय चित्त, चैतसिक रूप और निर्वाण है। इसमें वस्तुतः मनोवैज्ञानिक और नैतिक तत्त्वों की व्याख्या है। अभिधम्म पिटक की पहली पुस्तक धम्मसङ्गणि में मानसिक और भौतिक जगत की अवस्थाओं को संकलन किया गया है, गणनात्मक और परिप्रश्नात्मक शैली के आधार पर। धर्मों (पदार्थों) की कामावचर, रूपावचर आदि के रूप में संगणना और संक्षिप्त व्याख्या करने के कारण ही वह नाम है।[2] चित्त की कितनी भूमियाँ हैं। कुशल और अकुशल चित्त कितने हैं, किस चित्त के साथ कौन-कौन से चैतसिक रहते हैं, कौन-कौन सा चित्त, द्वेष और मोह से युक्त हैं और कौन, अलोभ, अद्वेष और अमोह से युक्त हैं, इन सबों की व्याख्या अभिधम्म का विषय है। फिर रूपावचर ध्यान के भेदों, ध्यानांगों, इनके बाधक पांच नीवरणों-कामच्छन्द, व्यापाद आदि, अरूपावचर ध्यान के प्रकार एवं इनके ध्यानांगों तथा लोकुत्तर भूमि के आठ प्रकार के चित्तों का वर्णन इसमें किया गया है। छः इन्द्रिय, छः विषय और इन्द्रिय और विषय के सम्पर्क में आने से छः प्रकार के स्पर्शों का, छः प्रकार की वेदनाओं का, छः प्रकार की तृष्णाओं का तथा तृष्णाओं के मूल का, भवचक्र से जोड़ने वाले संयोजनों का तथा तृष्णा को जड़ से उखाड़कर फेंकने वाले धर्मों का एवं ब्रह्मचर्य वास को पूरा करने के लिए अष्टांगिक मार्ग का विशद वर्णन किया गया है।

चित्त का मनोवैज्ञानिक स्वरूप एवं इसके नैतिक आयामों का भी वर्णन अभिधम्म में है। रूप के 28 प्रकारों का भी वर्णन है। नाम और रूप जिन चौबीस प्रकार के प्रत्ययों की सहायता से संबंधित होते हैं, मिलते हैं उनका भी विशद वर्णन अभिधम्म में है। कारण-कार्य के नियम अर्थात् प्रतीत्यसमुत्पाद की व्याख्या भी द्वितीय आर्यसत्य के प्रसंग में की गई है। ध्यान के दो प्रकार समथ और विपस्सना तथा विपस्सना तथा विपस्सना से यथाभूत ज्ञान प्राप्त कर धर्मों और वस्तुओं के त्रिलक्षणात्मक स्वभाव अर्थात् अनित्य दुःख और अनात्म आदि लक्षणों का भी वर्णन अभिधम्म में मिलता है। हम कैसे दुःख से छुटकारा पा सकते हैं, कैसे अविद्या को दूर कर तृष्णा से मुक्ति

1. वही, 375-381.
2. वही, 394.

पा सकते हैं, कैसे अकुशल धर्मों का प्रहाण कर कुशल धर्मों की वृद्धि कर सकते है- संक्षेप में शील, समाधि और प्रज्ञा का वर्णन ही अभिधम्म का अभिप्रेत विषय है। इन सारी बातों का वर्णन ही अभिधम्म का अभिप्रेत विषय है। इन सारी बातों की व्याख्या भगवान बुद्ध ने अपने उपेदशों के क्रम में की है। जैसे मैनें एक जगह ऊपर लिखा है कि अभिधम्म के ये तत्व ही भगवान के उपदेशों में ताना भरनी का काम करते हैं। इसलिए यह कहना बिल्कुल समीचीन होगा कि अभिधम्म पिटक का विकास सुत्तपिटक में पाये जाने वाले अभिधम्म के तत्त्वों के आधार पर हुआ है और अभिधम्म पिटक की पुस्तकें इन धर्मों के विश्लेषण, विभाजन, वर्गीकरण पर आधारित हैं। अभिधम्म के तत्त्व सुत्त-पिटक के सुत्तों को अनुप्राणित करते हैं- लेकिन अभिधम्म पिटक की पुस्तकों का प्रणयन कालान्तर में हुआ है।

एक बात और विशेष ध्यान देने की है। अभिधर्म में 28 प्रकार के रूपों का वर्णन है जैसा मैंने ऊपर कहा है लेकिन दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय, संयुत्त निकाय, अंगुत्तर निकाय एवं खुद्दक निकाय की पुस्तकों में इतना विस्तार से रूप का वर्णन नहीं हुआ है जितना चित्त और चेतसिक का। लेकिन इसके बीज तो सुत्तपिटक में हैं ही। चार महाभूतों जैसे पथवी, आपो, तेजो, वायु का उल्लेख दी.नि. (1.49.203, 2.190) म.नि. (1.1) सं.नि. (1.18) और उदान. (78, 164) पर मिलता है। इत्थिन्द्रिय, पुरिसिन्द्रिय, जीवितिन्द्रिय का उल्लेख सं.नि. (3.280) में है। विभिन्न प्रकार के रूपों जैसे लहुता, मुदुता, कम्मञ्ञता, जरता, अनिच्चता आदि का वर्णन तो विस्तार से धम्मसङ्गणि में ही है।

इसके आधार पर भी यह उपसंहार निकालना युक्तियुक्त होगा कि अभिधर्म के तत्व सुत्तपिटक में है पर अभिधर्म की सात पुस्तकों का प्रणयन बाद में हुआ है क्योंकि इन्हीं पुस्तकों में अभिधर्म के तत्वों की पुंखानुपुंखी व्याख्या पायी जाती है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

दीघ निकाय पालि, पठमो भागो, विपश्यना विशोधन विन्यास, धम्मगिरि, इगतपुरी, 1998

दीघ निकाय पालि, दुतियो भागो, विपश्यना विशोधन विन्यास, धम्मगिरि, इगतपुरी, 1998

दीघ निकाय पालि, ततियो भागो, विपश्यना विशोधन विन्यास, धम्मगिरि, इगतपुरी 1998

मज्झिम निकाय पालि, पठमो भागो, विपश्यना विशोधन विन्यास, धम्मगिरि, इगतपुरी, 1998

मज्झिम निकाय पालि, दुतियो भागो, विपश्यना विशोधन विन्यास, धम्मगिरि, इगतपुरी, 1998

मज्झिम निकाय पालि, ततियो भागो, विपश्यना विशोधन विन्यास, धम्मगिरि, इगतपुरी, 1998

मज्झिम निकाय पालि ततियो भागो, विपश्यना विशोधन विन्यास, धम्मगिरि, इगतपुरी, 1998

संयुत्त निकाय पालि, पठमो भागो, खण्ड-1, विपश्यना विशोधन विन्यास, धम्मगिरि इगतपुरी, 1998

संयुत्त निकाय पालि, पठमो भागो, खण्ड-2, विपश्यना विशोधन विन्यास, धम्मगिरि, इगतपुरी, 1998

संयुत्त निकाय पालि, दुतियो भागो, खण्ड-1, विपश्यना विशोधन विन्यास धम्मगिरि, इगतपुरी, 1998

संयुत्त निकाय पालि, दुतियो भागो, खण्ड-2, विपश्यना विशोधन विन्यास, धम्मगिरि, इगतपुरी, 1998

संयुत्त निकाय पालि, ततियो भागो, खण्ड-1, विपश्यना विशोधन विन्यास, धम्मगिरि, इगतपुरी, 1998

अंगुत्तर निकाय पालि, पठमो भागो, खण्ड-1, विपश्यना विशोधन विन्यास धम्मगिरि, इगतपुरी, 1998

अंगुत्तर निकाय पालि, पठमो भागो, खण्ड-2, विपश्यना विशोधन विन्यास, धम्मगिरि, इगतपुरी, 1998

अंगुत्तर निकाय पालि, दुतियो, भागो, खण्ड-1, विपश्यना विशोधन विन्यास, धम्मगिरि, इगतपुरी, 1998

अंगुत्तर निकाय पालि, ततियो भागो, खण्ड-2, विपश्यना विशोधन विन्यास धम्मगिरि, इगतपुरी, 1998

खुद्दक निकाय पालि, विपश्यना विशोधन विन्यास, धम्मगिरि, इगतपुरी, 1998

उदान पालि, विपश्यना विशोधन विन्यास, धम्मगिरि, इगतपुरी, 1998

धम्मपद पालि, विपश्यना विशोधन विन्यास, धम्मगिरि, इगतपुरी, 1998

सुत्तनिपात पालि, विपश्यना विशोधन विन्यास, धम्मगिरि, इगतपुरी, 1998

थेरगाथा पालि, विपश्यना विशोधन विन्यास, धम्मगिरि, इगतपुरी, 1998

थेरीगाथा पालि, विपश्यना विशोधन विन्यास, धम्मगिरि, इगतपुरी, 1998

सुमंगल विलासिनी, पठमो भागो, विपश्यना विशोधन विन्यास, धम्मगिरि, इगतपुरी, 1998

सुमंगल विलासिनी, दुतियो भागो, विपश्यना विशोधन विन्यास, धम्मगिरि, इगतपुरी, 1998

सुमंगल विलासिनी, ततियो भागो, विपश्यना विशोधन विन्यास, धम्मगिरि, इगतपुरी, 1998

पपञ्चसूदनी, (मूलपण्णास अट्ठकथा) पठमो भागो, विपश्यना विशोधन विन्यास, धम्मगिरि, इगतपुरी, 1998

पपञ्चसूदनी, (मज्झिमपण्णास अट्ठकथा) दुतियो भागो, विपश्यना विशोधन विन्यास, धम्मगिरि, इगतपुरी, 1998

पपञ्चसूदनी, (उपरिपण्णास अट्ठकथा) ततियो भागो, विपश्यना विशोधन विन्यास, धम्मगिरि, इगतपुरी, 1998

सगाथावग्ग अट्ठकथा, विपश्यना विशोधन विन्यास, धम्मगिरि, इगतपुरी, 1998

निदानखन्धवग्ग अट्ठकथा, विपश्यना विशोधन विन्यास, धम्मगिरि, इगतपुरी, 1998

सळायतन महावग्ग अट्ठकथा, विपश्यना विशोधन विन्यास, धम्मगिरि, इगतपुरी, 1998

अंगुत्तर निकाय अट्ठकथा, पठमो भागो विपश्यना विशोधन विन्यास, धम्मगिरि, इगतपुरी, 1998

अंगुत्तर निकाय अट्ठकथा, दुतियो भागो, विपश्यना विशोधन विन्यास, धम्मगिरि, इगतपुरी, 1998

खुद्दक पाठ अट्ठकथा, विपश्यना विशोधन विन्यास, धम्मगिरि, इगतपुरी, 1998

धम्मपद अट्ठकथा, पठमो भागो, विपश्यना विशोधन विन्यास, धम्मगिरि, इगतपुरी, 1998

धम्मपद अट्ठकथा, दुतियो भागो, विपश्यना विशोधन विन्यास, धम्मगिरि, इगतपुरी, 1998

उदान अट्ठकथा, विपश्यना विशोधन विन्यास, धम्मगिरि, इगतपुरी, 1998

इतिवुत्तक अट्ठकथा, विपश्यना विशोधन विन्यास, धम्मगिरि, इगतपुरी, 1998

सुत्तनिपात अट्ठकथा, विपश्यना विशोधन विन्यास, धम्मगिरि, इगतपुरी, 1998

सुत्तनिपात अट्ठकथा, दुतियो भागो, विपश्यना विशोधन विन्यास, धम्मगिरि, इगतपुरी, 1998

थेरगाथा अट्ठकथा, पठमो भागो, विपश्यना विशोधन विन्यास, धम्मगिरि, इगतपुरी, 1998

थेरगाथा अट्ठकथा, दुतियो भागो, विपश्यना विशोधन विन्यास, धम्मगिरि, इगतपुरी, 1998

थेरीगाथा अट्ठकथा, विपश्यना विशोधन विन्यास, धम्मगिरि, इगतपुरी, 1998

संस्कृत ग्रन्थः

महायान सूत्रालंकार, असंग

ललित विस्तर, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा

अन्य पालि ग्रन्थः

अट्ठसालिनी, आचरिय बुद्धघोस, सम्पादक प्रो० पी० व्ही० बापट

अट्ठसालिनी, (रामशंकर त्रिपाठी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1989)

विसुद्धि मार्ग, आचार्य बुद्धघोष (अनुवादक भिक्षु धर्मरक्षित)

अभिधम्मत्थसङ्गहो, (डी० डी० कोशम्बी की नवनीत टीका के साथ) आचार्य अनुरूद्ध

अभिधम्मत्थ सङ्गहो, भाग-1 एवं 2 (अनुवादक रेवत धम्म तथा त्रिपाठी) वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1976

अन्य:

पालि साहित्य का इतिहास, डा० भरत सिंह उपाध्याय, हिन्दी साहित्य

सम्मेलन प्रयाग, इलाहाबाद, 1994

पालि साहित्य का इतिहास, राहुल सांकृत्यान

विनय पिटक, राहुलकृत हिन्दी अनुवाद, ताईवान संस्करण

English Books :

A Buddhist Manual of Psychological Ethics, Mrs. C.A.F. Rhys. Davids, 2nd Ed., London, 1923.

Abhidhamma Studies, Nyanaponika Thera, Buddhist Publication Society, Kandy, 1976.

The book of the Discipline (Tr. I.B. Horner), Pali Text Society, London, 1951.

2500 Years of Buddhism, (ed. P.V. Bapat), Publications Division, Govt. of India, Delhi, 1971.

The Buddha and His Teachings, Narada Mahathera, The Buddhist Missionary Society, Kualalumpur, Malayasia, 1977.

A Manual of Abhidhamma, Narada Mahathera, Fifth Edition, The Buddhist Missionary Society, Kualalumpur, Malayasia, 1987.

A Manual of Buddhism, Narada Mahathera, Taiwan Edition, 1995.

BOOK
EASTERN LINKERS
EBL

Eastern Book Linkers

(INDOLOGICAL PUBLISHERS & BOOKSELLERS)

5825, New Chandrawal, Jawahar Nagar,
Delhi-110007 Ph.: 23850287, 32919869
e-mail : books@eblindology.com
e-mail : ebl@vsnl.net
website : www.eblindology.com

ISBN 81-7854-156-4

9788178541563